गोरख पाण्डेय की काव्यदृष्टि और उनका रचना संसार

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध

शोध निर्देशक

प्रो. मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्ता

अवधेश कुमार त्रिपाठी

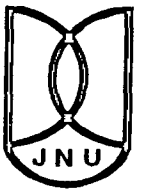

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2005

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURAL STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

Dated :29/ 07/ 2005

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation / thesis entitle "**Gorakh Pandey Ki Kavya Drishti Aur Unka Rachna Samsar**" by me is an original work and has not been submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

AWADHESH KUMAR TRIPATHI
(Research Scholar)

PROF. MANAGER PANDEY
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/ JNU

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/ JNU

गोरख की कविता के नायकों और उनके संघर्षों के नाम

क्रम

भूमिका 1–8

अध्याय 1
कविदृष्टि की परंपरा और गोरख का उससे संबंध 9–42

अध्याय 2
विचारधारा और संस्कृति 43–72

अध्याय 3
गोरख का रचना संसार 73–128

उपसंहार 129–136

संदर्भ ग्रन्थ सूची 137–139

भूमिका

आएंगे, अच्छे दिन आएंगे

गर्दिश के दिन ये कट जाएंगे.

सूरज झोपड़ियों में चमकेगा

बच्चे सब दूध में नहाएंगे.

सपनों की सतरंगी डोरी पर

मुक्ति के फरहरे लहरायेंगे.

यह 'आशा का गीत' गोरख के किसी संग्रह में नहीं मिलता. दुःख और उम्मीद के आरोह–अवरोह में यह गीत किसी ऐसे गरीब गाँव की पृष्ठभूमि में अवस्थित लगता है, जहाँ नरसंहार हुआ है. लेकिन फिर भी क्रांतिकारी कार्यकर्ता लोगों को ढाढस बँधा रहे हैं, उनके फटे हुए कलेजों को सी रहे हैं. इस उम्मीद को जिला रहे हैं कि लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई. 'नया अनहद' में 'जाग मछन्दर' शीर्षक से 'साथी गोरख पाण्डे की स्मृति में' लिखी कविता में कवि दिनेश कुमार शुक्ल ने उस संवेदना का एक चित्र खींचा है–

'सो रहा संसार, पूँजी का

विकट भ्रमजाल

किन्तु फिर भी सर्जना के

एक छोटे से नगर में

जागता है एक नुक्कड़

चिकटती चिंगारियाँ

उठता धुँआ है

सुलगता है एक लक्कड़

तिलमिलाते आज भी

कुछ लोग

सुनकर देखकर अन्याय

और लड़ने के लिए

अब भी बनाते मन, मछंदर' **दिनेश कुमार शुक्ल, जाग मछन्दर, नया अनहद, पृ. 26, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद**

गोरख की कविता नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की कोख से जन्मी थी. वसंत का वह वज्रनाद किसी तात्कालिक कारण से नहीं पैदा हुआ था, बहुत गहरी थी वह उमस जिससे 'जुल्म की अंधी रात में फूटा सुब्हे बगावत का गुलशन', गोरख के ही शब्दों में–

'हजार साल पुराना है उनका गुस्सा

हजार साल पुरानी है उनकी नफरत'' (तुम्हें ड़र है, 1975)

अकारण नहीं कि नक्सलवादी आंदोलन के इसी ताप को अरुंधती रॉय ने अपने उपन्यास 'द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' में मिलते जुलते शब्दों में व्यक्त किया है,– "On their shoulders they carried a keg of ancient anger, lit with a recent fuse."

गोरख ने जिन दिनों लिखना शुरू किया वह नक्सलबाड़ी के किसान विद्रोह से प्रेरित राजनीति पर बर्बर दमन का दौर था. शहीदों का अविराम शोकगीत गोरख की कविता की अन्तर्वर्ती धार है, उनकी रचना की आधारभूत करुणा और अदम्य शौर्य. यह वही दौर है जब धक्का खाये आंदोलन को संभालते हुए 80 का दशक आते न आते क्रांतिकारी ताकतें क्रांति के पुनर्निर्माण के लिए संघर्ष और आत्मसंघर्ष में जुट गई थीं. इसीलिए गोरख की कविता में क्रांति का महज़ आवेग अथवा रोमानी भावोच्छ्वास नहीं बल्कि उसका अन्तः–बाह्य संघर्ष और परिपक्व राजनीतिक चेतना मिलती है. बदली हुई परिस्थिति में नक्सलबाड़ी के अनुभवों से निकली एक चिंता यह भी थी कि जमीनी संघर्षों से उठकर राजनीति की मुख्यधारा में हस्तक्षेप कैसे किया जाए. गोरख की कविता साहित्य–संस्कृति के क्षेत्र में इस चिंता का वहन करती है. एक ओर भोजपुरी की लोकलय में धरती के दुःख और धरती–पुत्रों के शौर्य को वे एकदम आधुनिक और वैज्ञानिक

भौतिकवादी चेतना के साथ पिरो रहे थे, वहीं दूसरी ओर ग़ज़लों और नज़्मों के साथ छोटे कस्बों और शहरों में रहने वाले विराट निम्न–मध्यमवर्गीय जनसमूह को क्रांति के पक्ष में संबोधित करने की उनकी तैयारी स्पष्ट दिखती है.

मुक्तिबोध ने हिंदी कविता को जहाँ छोड़ा था, उस सिरे को फिर से पकड़कर काम शुरू करने की, अर्थात् साहित्य की मुख्यधारा में क्रांति के एजेंडे को पुनर्स्थापित करने की कोशिश गोरख ने शुरू की. इसमें उन्हें ढेरों साथी–संगाती मिले. पहले की पीढ़ी के सर्वेश्वर दयाल सक्सेना मिले. 'जन संस्कृति मंच' की रूपरेखा तैयार हुई.

गोरख की कविता का घनिष्ठ संबंध सन् 1972 से 1979 के बीच भोजपुर और पटना में विकसित जुझारू किसान संघर्षों से है. वास्तव में गोरख की कविता, 80 के दशक में भोजपुर व पटना से निकलकर मध्य बिहार के रोहतास, गया, जहानाबाद, औरंगाबाद, और नालंदा में भभक कर फैलते किसान आंदोलन के समानांतर विकसित होती दिखाई देती है. क्रांतिकारी संघर्षों से आंदोलित हिंदी क्षेत्र का भोजपुरी समाज गोरख की कविता में अपनी समूची जीवंतता के साथ स्पंदित है.

गोरख की कविदृष्टि का निर्माण जहां एक तरफ भोजपुर के किसान आंदोलन का ताप ग्रहण करके हुआ वहीं दूसरी तरफ हिंदी साहित्य की अराजकतावादी धारा 'अकविता' के साथ संघर्ष करते हुए भी हुआ. इस प्रबंध का पहला अध्याय है 'कविदृष्टियों की परंपरा और गोरख का उसके साथ संबंध'. इस अध्याय में पूंजीवादी समाज में साहित्य के सर्जक के रूप में व्यक्ति केन्द्र के स्थापित होने और आत्मसजग होने की प्रक्रिया के साथ–साथ कविदृष्टि की अवधारणा के उदय और गोरख के इस परंपरा के साथ संबंधों का अध्ययन किया गया है. गोरख साहित्य के व्यक्ति केन्द्र को समूह की रचनात्मकता के जरिए विस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन यांत्रिक तरीके से नहीं. इसके साथ–साथ इस अध्याय में कविता को जनता से दूर ले जाने के लिए गढ़ी गयी नई भाषा और मुहावरे के खिलाफ गोरख द्वारा चलाए गए संघर्षों और आग्रहों का विश्लेषण किया गया है. गोरख की अपनी कविदृष्टि के बारे में उनके अपने विचारों के साथ उन आलोचकों के विचारों को भी साथ में रखकर तुलना करने की कोशिश की गई है, जिन्होंने सीधे या परोक्ष रूप से गोरख की कविता या नक्सलवादी कविताधारा के बारे में लिखा.

गोरख सामंती मिथकों की रूपगत तान को बनाए रखते हुए भी उसके क्रूर यथार्थ की अन्तर्वस्तु को अद्‌भुत तीक्ष्णता से स्पष्ट करते हैं. गोरख की भाषा उन लोगों के सामाजिक विकास के स्तर से प्रस्थान करती है जिनके वे कवि हैं. इसीलिए सामंतवाद की बेड़ियों को तोड़ते और झकझोरते हुए विकसित होती हुई उनकी चेतना के अन्तरतम को उनकी भाषा इतनी सहजता से अभिव्यक्त करती है. गोरख की कविता इस बात की गवाह है कि 'समकालिक' कैसे 'कालजयी' बनता है। 1984 के नवम्बर में इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद काँग्रेस के निर्देशन में हजारों निरपराध सिक्खों का कत्ल किया गया. इस हत्याकांड के विरुद्ध चीख की तरह 'खूनी पंजा' शीर्षक कविता गोरख की कलम से निकली. हाल के गुजरात नरसंहार के बाद एक पत्रिका ने अपने मुखपृष्ठ पर जब इसे उद्‌धृत किया तो महसूस हुआ मानो गुजरात का नरसंहार ही इस कविता में साकार हो उठा हो –

'पेट्रोल छिड़कता जिस्मों पर
हर जिस्म से लपटें उठवाता
हर ओर मचाता कत्लेआम
आँसू और खून में लहराता
.....
बोलो, यह पंजा किसका है?
यह खूनी पंजा किसका है?
.....
यह पंजा नादिरशाह का है
यह पंजा हर हिटलर का है

गोरख के कवि की आँख किसी घटना या दुर्घटना को देश–काल–परिस्थिति में ही नहीं बल्कि इतिहास और विचारधारा की गतिमयता में देखने की अभ्यस्त थी. यही वह

दृष्टि है जो भाव और बोध, संवेदना और विचार, अर्थवत्ता और प्रासंगिकता, समसामयिकता और कालजयीपन की द्वन्द्वमय एकता को वस्तु और रूप दोनों ही धरातलों पर उपलब्ध करती है. उनकी कविता की सरलता और उनका सीधापन कठिन, कठोर और जटिल रास्तों से होकर आता है.

गोरख का क्रांतिकारी कविकर्म मुक्तिबोध की ही तरह इस तथ्य से लगातार उलझता है कि अभिव्यक्ति मध्यमवर्ग के पास है जबकि गहन गंभीर अनुभव गरीब और उत्पीड़ित वर्गों के पास हैं. मुक्तिबोध की काव्ययात्रा के आरंभ में ही उनके सामने यह समस्या खड़ी है– 'मै उनका ही होता जिनसे रूप भाव पाए हैं.' मुक्तिबोध के भीषण आत्मसंघर्ष ने इस समस्या को हल करने की दिशा में एक मंजिल पार कर ली थी. उन्होंने गोरख जैसों के लिए जमीन साफ की थी. मुक्तिबोध की सीख थी कि क्रांति को कविता के एजेंडे पर सबसे ऊपर रखकर चलने वाले रचनाकार के लिए इस अंतर्विरोध को हल करना सबसे जरूरी है. गोरख इसे लेखकों के 'विचारधारात्मक रूपान्तरण' की समस्या मानते हैं. चूँकि भारत में बौद्धिकों का व्यापक हिस्सा मध्यवर्ग से आता है, इसीलिए मध्यवर्गीय बौद्धिक तबके के दोहरेपन पर तीखे व्यंग्य करने वाली उनकी कविताएं इसी समस्या को संबोधित करती हैं 'गलतियों का कोरस','समझदारों का गीत', 'फूल खिल आए हैं', 'बात बने', 'कला कला के लिए', 'चिट्ठी' ऐसी ही कविताएं हैं. मुक्तिबोध ने हिंदी कविता को इस हद तक क्रांति का सहयात्री बना दिया था कि कविता को उस रास्ते आगे बढ़ाने का काम बहुत लंबी साँस और बड़े जिगर की माँग करता था. हिंदी कविता इस उत्सर्गमय रास्ते से बड़ी तेजी से पीछे हटी है, लेकिन गोरख और उनके हमसफर इस कठिन चुनौती को स्वीकार करके चले. मुक्तिबोध के बाद साहित्य के क्षेत्र में शास्त्रीयता, आधुनिकतावाद तथा चरम निषेधवादी अराजकता ने जोर मारा. इन सभी प्रवृत्तियों की मुख़ालफत करते हुए मुक्तिबोध की विरासत को अपने तमाम नए–पुराने रचनाकार सहयोगियों के साथ गोरख ने इस तरह पुनर्जीवित किया कि ग्रामीण भारत तथा किसान–मजूर के पसीने की महक फिर से कविता का प्राणतत्व बनी. इसीलिए ठीक मुक्तिबोध की ही तरह गोरख आगे आने वाले क्रांतिकारी जनकाव्य के संस्कार बन गए. मुक्तिबोध ने कविता को आजादी के बाद स्थापित सत्ता संरचना की जैसी व्यामोहमुक्त,

मूलगामी आलोचना का अस्त्र बनाया, उसी भूमि पर गोरख ने लंबे अर्से के बाद कविता को फिर से खड़ा किया.

काव्य चिंतन तथा व्यवहार में गोरख ने लेखकों के विचारधारात्मक रूपान्तरण, अन्तर्वस्तु और रूप के द्वन्द्वात्मक संबंध तथा संप्रेषण की समस्या को सुलझाने का जैसा प्रयत्न किया, वह भी मुक्तिबोध के असमाप्त कार्यभार को ही आगे बढ़ाता है.

निचली समझी जाने वाली जातियों और शिल्पकारों जैसे मेहनतकश तबकों में प्रचलित लोकरूपों को गोरख ने बड़े जतन से क्रांन्तिकारी चेतना से जोड़ा है. इन गीतों में 'श्रम की लय' और 'श्रम की विचारधारा' एकरूप हो गई है. गजब की सावधानी है कि पारंपरिक रूपों की किसी भी रचना में जनता की चेतना का पिछड़ापन कहीं से भी प्रवेश नहीं पाता क्योंकि गोरख इस तथ्य से पूरी तरह सचेत हैं कि किसी भी वर्गविभाजित समाज में 'शोषितों के विचार बहुधा शोषकों के ही विचार होते हैं'. किसी समय निराला जी ने छंद से मुक्ति को कविता की मुक्ति बताया था. गोरख ने लोकछंद को वर्चस्वशाली वर्गों के विचार और संस्कार से मुक्त करके कविता की मुक्ति को जनता की व्यापक मुक्ति से एकरूप किया. उन्हीं के शब्दों में–

'वे तार बदलो न जिनके सुर में नये जुनूं का सबब बयां हो,

रहा न हो काम का साज़ भी ये तो फिर मुकम्मल ही इब्तिदा हो'

इस प्रबंध का दूसरा अध्याय 'विचारधारा और संस्कृति' है. विचारधाराओं के स्वरूप, संस्कृतियों के निर्माण में विचारधारा की भूमिका के साथ–साथ गोरख की विचारधारा और उनके संस्कृति संबंधी चिन्तन का विश्लेषण किया गया है.

'गोरख का रचना संसार' साहित्य की मुख्यधारा के नाम पर वर्चस्ववादी संस्कृति के समर्थन के खिलाफ निर्मित हुआ है. उनके जीवनकाल में 'भोजपुरी के नौ गीत' शीर्षक कविता संग्रह 1978 में हिरावल प्रकाशन से और 'जागते रहो सोने वालो' 1983 में राधा कृष्ण प्रकाशन से प्रकाशित हुआ जिसके लिए उन्हें ओंप्रकाश पुरस्कार मिला.मृत्यु के बाद 'स्वर्ग से बिदाई' कविता संग्रह और 'लोहा गरम हो गया है' कविताओं और लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ. 'समय का पहिया' नाम से चुनी हुई कविताओं का संकलन संवाद

प्रकाशन में 2003 में प्रकाशित किया. 'भोजपुरी के नौ गीत' 'जागते रहो सोने वालो' में समाहित कर लिए गए थे. मृत्यु के बाद प्रकाशित संग्रहों में कुछ नई कविताओं के अतिरिक्त अधिकतर प्रकाशित हो चुकी रचनाओं का ही संकलन किया गया है. भोजपुरी और खड़ी बोली की कविताओं और गीतों को मिलाकर रखने पर उनकी कविताओं की संख्या 100 के आस–पास ठहरती है. संख्या में कम दिखती हुयी ये कविताएं एक बड़े दायरे को छूती हैं. लोगों की चेतना में बदलाव के लिए प्रतिबद्ध हैं. सदियों से गुलामी की चक्की में पिसते आए लोगों को नए स्वप्न देती हैं, श्रम के सौन्दर्यशास्त्र की रचना करती हैं और श्रम को जीवनमूल्य के रूप में स्थापित करती हैं, समाज के सर्वाधिक शोषित तबकों और महिलाओं के लिए मुक्ति का रास्ता बताती हैं, राजसत्ता पर मज़दूरों का कब्जा हो सके, इसके लिए उन्हें तैयार करती हैं. गोरख की कविताएं राजनीति और संस्कृति, दोनों स्तरों पर सर्वहारा के वर्चस्व को कायम करने के एजेंडे के तहत लिखी गई कविताएं हैं. 'कम' कविताएं होने के बावजूद इस अध्याय में हर कविता का विश्लेषण संभव नहीं हो सका है. इस अध्याय को चार उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है – 1. 'सपने भी सुखी और आज़ाद होना चाहते हैं' इसके अंतर्गत गोरख की कविताओं में आने वाले स्वप्नों के बारे में विचार किया गया है. 2. 'हमरे जंगरवा से धरती फुलाइल' के अंतर्गत श्रम को सृजन के आधार के रूप में स्वीकार करने और श्रम की विचारधारा निर्मित करने वाली कविताओं का विश्लेषण किया गया है. 3. 'तकलीफ़ का उमड़ता हुआ समुंदर' के अंतर्गत अपने अधिकारों के लिए रोजमर्रा के जीवन में संघर्ष कर रही योद्धा महिलाओं के बारे में लिखी गई कविताओं के बारे में और 4. 'प्रियतम लोक कथा बन बैठा राजदखल का नारा' के अंतर्गत राजसत्ता के दमनकारी चरित्र और सर्वहारा द्वारा उस पर कब्जा करने के बारे में लिखी गई कविताओं का विश्लेषण किया गया है.

इस कार्य को पूरा करने में मेरे शोध निर्देशक प्रो0 मैनेजर पाण्डेय द्वारा 'अंदर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट', की शैली में किए मार्गदर्शन ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई. मैं इस तरह के निर्देशन और विचारों पर दृढ़ रहने की सीख के लिए प्रो0 मैनेजर पाण्डेय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूं. गोरख के बारे में मेरे विचारों को ठीक करने और अंतर्दृष्टि प्रदान करने के लिए कॉ0 रामजी राय, वरिष्ठ कवि दिनेश कुमार शुक्ल, आलोचक सियाराम शर्मा और गोपाल प्रधान का आभारी हूं. सियाराम शर्मा जी ने

तो गोरख के बारे में लिखे गए लेखों को एकत्र करने में जितना समय दिया वह आज–कल दुर्लभ है. इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री सूर्यनारायण ने कुछ पत्रिकाओं के जरूरी अंक उपलब्ध कराए, मै उनका आभारी हूं. कॉ0 प्रणय कृष्ण जिन्होंने न केवल गोरख की कविता के साथ परिचय करवाया बल्कि इस शोध के हर पक्ष के साथ लगातार जुड़े रहे. उन्हें रस्मी तौर पर धन्यवाद ज्ञापित करना धृष्टता ही होगी. कॉ0 कविता कृष्णन ने अंग्रेजी के तमाम संदर्भों को जुटाया और विचारधारा संबंधी अवधारणाओं को स्पष्ट किया, मै उनका आभारी हूं. कॉ0 मीना राय और कपिल शर्मा ने गोरख के कविता संग्रह उपलब्ध कराए, कॉ0 तापस, पर्णल चिरमुले, शुभ्रा, शशांक, मृत्युंजय, विपिन कुमार शर्मा, राधी ने भावनात्मक, आर्थिक व तकनीकी मदद की. मैं इन सब का कृतज्ञ हूं. अंत में मैं आइसा जे.एन.यू. यूनिट के उन तमाम साथियों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूं जिन्होंने इस काम को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन दिया.

इस शोध प्रबन्ध को पूरा करवाने के लिए उपरोक्त व्यक्ति जिम्मेदार हैं. त्रुटियों और सीमाओं के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार हूं.

अवधेश कुमार त्रिपाठी
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

अध्याय 1
काव्यदृष्टि की परंपरा और गोरख का संबंध

कविदृष्टि का संबंध उस परिघटना से है जिसके तहत एक कवि अपनी कविता के बारे में वक्तव्य देने, अपनी रचना–प्रक्रिया को स्पष्ट करने और अपने युग–संबंध को काव्य से इतर किन्तु उसके पूरक के बतौर काव्य संबंधी अपने चिंतन को व्यक्त करने के लिए स्वयं को विवश पाता है. जाहिर है कि यह परिघटना आधुनिकता, वैयक्तिकता और उससे उत्पन्न आत्मसजगता से जुड़ी हुयी है. कविता क्या है ? – इस प्रश्न का उत्तर काव्य सिद्धांत कहलाता है किन्तु "कविदृष्टि" जैसी कोटि में दृष्टि एक तरह के सब्जेक्ट या आत्म की पूर्वकल्पना करके चलती है. यह आत्म मध्यकालीन आत्म नहीं है जो कि परमात्म का अंश मात्र है, अतः सार्वभौम है. यह आत्म विशिष्ट है, उसकी बनावट वैयक्तिक विचित्रता से परिभाषित है. ऐसे में इस आत्म की दृष्टि भी वैसी ही वैयक्तिक और विशिष्ट है. हिंदी में कवि दृष्टि का विमर्श नई कविता के प्रयोगधर्मी, अन्वेषी और वैयक्तिक अनुभूति के व्यापक विमर्श का हिस्सा है. तार सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा "प्राचीन काल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग–अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित तो था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी..... विशेष ज्ञानों के. इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए हैं..... आधुनिक ज्ञान विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझकर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है – समूचे ज्ञान विज्ञान के विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलांघकर, उससे ऊपर उठकर, कवि को उसके विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है. इस दायित्व को वंह नहीं भूलता है"[1] कवि दृष्टि और कुछ नहीं बल्कि आधुनिकता से निष्पन्न विशेषीकरण, विभाजन और अलगाव को संबोधित करने के आत्म सजग प्रयास का ही दूसरा नाम है. इसके तहत कोई भी आधुनिक कवि अपने संवेदनात्मक ज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयास

करता है. इसे ही दूसरे शब्दों में रचना–प्रक्रिया का आत्मसाक्ष्य भी कह सकते हैं.

आधुनिक कला : एक वैयक्तिक उत्पादन

व्यक्ति की अवधारणा का जन्म और उससे उत्पन्न आधुनिक कला 14वीं शताब्दी में आरंभ हुए योरोपियन रेनेसां की देन है. रेनेसां के कलाकारों खासतौर पर लियोनार्दो दा विंसी और माइकल एंजेलो ने Perspective का आविष्कार किया. सामान्य भाषा में जिसे दृष्टिकोण, परिदृश्य या परिप्रेक्ष्य कहा जा सकता है. दिक् का परिदृश्यात्मक रूप (Perspectival view of Space) पैनोफ्स्की (Panofsky) के शब्दों में 'चित्र का एक खिड़की के रूप में बदल जाना था' या यों कहें कि चित्र का चित्रण इस विधि से किया गया होता था मानो कि वह किसी खिड़की से देखा गया हो. दूसरे शब्दों में विषयी के रूप में व्यक्ति मनुष्य एक खिड़की के रास्ते विश्व और उसके यथार्थ पर दृष्टिपात करता है. रेनेसां की यह परिदृश्य–क्रांति दृष्टा–आत्म और दृश्य यथार्थ के बीच विभाजन का परिणाम है. यही अनुचिंतनशील व्यक्ति तथा आधुनिक कला के व्यक्तिकृत और निरूपण–परक (representational) स्वरूप का संकेत देता है. व्यक्ति–आत्म यथार्थ का सिर्फ चित्रण या निरूपण करने में समर्थ है न कि उस यथार्थ में भाग लेकर उसे बनाने में. क्योंकि वह यथार्थ उससे पराया या अजनबी है. कला अपने आधुनिक रूप में व्यक्ति की अवधारणा पर खड़ी है जहां व्यक्ति यथार्थ से अलग और पराया है. आधुनिक कलाकार एक आत्मनिष्ठ व्यक्ति है जिसका काम अपने से बाहर स्थित यथार्थ का अनुचिंतन (contemplation) और निरूपण करना है. यहां 'व्यक्ति की विचारधारा' (ideology of the individual) ही आधुनिक कला की भित्ति है. यहां व्यक्ति को उसके बाहर स्थित यथार्थ के विलोम में परिभाषित किया जाता है. इस प्रकार व्यक्ति और उसका आत्म यथार्थ का हिस्सा नहीं होता और जिस यथार्थ पर वह दृष्टिपात करता है वह उसके अस्तित्व के लिए पराया है.

कविदृष्टि का विमर्श कला की इसी आधुनिक परिस्थिति या अवस्थिति की देन है. जहां एक कवि यथार्थ के अपने निरूपण और अनुचिंतन के विषय में वक्तव्य देने का उपक्रम करता है. सामंतवाद के विरुद्ध पूंजीवाद की बढ़तरी ने व्यक्तिगत

उद्यमिता और आजादी की चेतना को स्थापित किया. जहां सामंतवाद के तहत मनुष्य की भूमिका एक श्रेणीबद्ध निरंतरता में सुनिश्चित रहा करती थी वहीं व्यक्तिवाद पूंजीवाद के तहत एक संभावनाशील खुलेपन को लेकर आया. आधुनिक कला के सभी रूप उन्हें पैदा करने वाले व्यक्तियों का हस्ताक्षर लिए हुए हैं. साहित्य, संगीत और दृश्य कलाओं के सभी उत्पादन, व्यक्तिकृत आधुनिक कला उत्पादक और उपभोक्ता के बीच विभाजन पर आधारित एक व्यक्तिकृत उत्पाद हैं. रेनेसां के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक कला का यह स्वरूप निश्चय ही एक प्रगतिशील भूमिका लेकर आया खासतौर पर सामंती उत्पादन संबंधों के विरुद्ध, किन्तु पूंजीवाद के युग में उत्[illegible], वह एक प्रगति विरोधी दिशा की ओर अग्रसर हुआ. हिंदी में आधुनिकतावाद जिस प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में परवान चढ़ा उसमें उसकी दिशा प्रगति विरोधी ही रही. ऐसे में कला के मार्क्सवादी व्यवहार के साथ उसका टकराव स्वाभाविक था. यह टकराव हमें अलग–अलग रचनाकारों के बीच और एक ही रचनाकार के भीतर परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के रूप में दिखाई देता है. तार सप्तक (1943 ई0) में गजानन माधव मुक्तिबोध का वक्तव्य इसका एक प्रातिनिधिक उदाहरण है. मुक्तिबोध ा के शब्दों में "मेरे बालमन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व–मानव का सुख–दुःख – इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी. इस का स्पष्ट वैज्ञानिक हल मुझे किसी से न मिला. परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वंद्वों के कारण एक ही काव्यविषय नहीं रह सका. जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका.[2]

दूसरी ओर दार्शनिक प्रवृत्ति – जीवन और जगत के द्वंद्व – जीवन के आन्तरिक द्वंद्व – इन सबको सुलझाने की, और एक अनुभव–सिद्ध व्यवस्थित तत्व प्रणाली अथवा जीवन दर्शन प्राप्त कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती थी.[3]

क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ. अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ.[4]

मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति" (माइग्रेशन इंस्टिंक्ट) पर बहुत जोर देता हूं. आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग–बिरंगे जीवन को यदि देखना है,

तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़ कर बाहर जाना ही होगा. बिना उसके इस विशाल जीवन समुद्र की परिसीमा, उस के तट प्रदेशों के भूखण्ड, आंखों से ओट ही रह जाएंगे. कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है. फिर युगसन्धि काल में कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गतल साबित करना ही पड़ेगा.[5]

मेरी ये कविताएं अपना पथ ढूंढ़ने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं. उन का सत्य और मूल्य उसी जीवन स्थिति में छिपा है.[6]

मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव यह बताता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वतंत्रता का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें जो विवेकपूर्ण हो. ..... अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिए व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है. मेरे लेखे यह अत्यंत अनुचित मार्ग है.'' [7]

यहां मुक्तिबोध जिस उलझन को व्यक्त करते हैं वह यह है कि पूंजी के युग में कला का केन्द्र व्यक्ति है लेकिन इस व्यक्ति केन्द्र को दिशा व्यापी करने की आवश्यकता है. एक ओर पूंजी के युग की व्यक्तिवादी नियति है दूसरी ओर उसे अतिक्रांत करने की, संपूर्ण होने की दुर्दम्य चाहत.

व्यक्तिकृत आधुनिकतावादी कला और जनजीवन से उभरती और उसे बदलती कला का द्वंद्व 'दूसरा सप्तक' (1951) में शमशेर के वक्तव्य में और अधिक गहराई से व्यक्त होता है. ''कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज नहीं हो सकती और इतिहास आज इन संघर्षों का साथ दे रहा है. सभी देशों में, बेशक यहां भी, दरअसल आज की कला का असली भेद और गुण उन लोक कलाकारों के पास है, जो जनान्दोलनों में हिस्सा ले रहे हैं. टूटते हुए मध्यवर्ग के मुझ–जैसे कवि उस भेद को जहां वह है, वहीं से पा सकते हैं, वे उसको पाने की कोशिश में लगे हुए हैं.[8]

सामाजिक चेतना के साथ–साथ उठता हुआ हिन्दी साहित्य में प्रतिभा का

यह ज्वार जब सन् 42–43 में बैठने लगा, तो दूसरी लहर में और दूसरे लोग तेजी से उठ कर आगे आए. 'सुमन', केदार नाथ अग्रवाल,..... 'गोरा बादल' और नागार्जुन; और कितने ही लोक कवि, स्व0 बिसराम, भिखारी ठाकुर, रामकेर, प्रेमदास और खेमसिंह नागर जो लोकभाषा और लोकभावों के सुन्दर कलाकार हैं, पुरानों में निराला ही अकेले इन सबों के साथ आए. इनमें सामाजिक सच्चाई और नए लोकतंत्र की शक्तियां ज़्यादा खुलकर और दृढ़ता से बोलती हैं; इनमें कला का सुघड़पन पिछलों – जैसा चाहे अभी न हो मगर यह जो विशेषकर लोक कवियों की, क्रांतिकारी कविता बिहार और यू0पी0 में गूंजने लगी है, उसका कुछ अर्थ है, यानी कि जनता अब एक स्वतंत्र राष्ट्र की तरह अपने मूल अधिकारों का उपभोग करना चाहती है. इसलिए इस कविता का स्वर जन–मन की भावनाओं को छूता है.[9]

कला जीवन का सच्चा दर्पण है. और आज के सभी देशों के जीवन में कायापलट तेज़ी के साथ आ रही है; क्योंकि आज किसको नहीं दिखाई दे रहा है कि यह क्रांति का युग है. थके हुए पुराने कलाकार की आहों को भी उससे चमक मिलती है. नयों की तो वह काव्य सामग्री ही है; क्योंकि वही उनके आगे की पीढ़ियों के लिए नए, उन्मुक्त–सुखी, आदर्श जीवन की नींव डालने वाला है.''[10]

यहां लोक कला, लोक भाषा, लोक जीवन व्यक्तिवाद के विरुद्ध खड़े किए गए प्रत्यय हैं, किन्तु ये सभी प्रत्यय प्राक् आधुनिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं हैं. 'दूसरा सप्तक' में ही रघुवीर सहाय ने शमशेर की बात को आगे बढ़ाते हुए अपने वक्तव्य में लिखा है '' शमशेर बहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि ज़िन्दगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है : आक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं.

मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह नहीं चढ़ाया जा सकता. उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाते रहने वाले ढुलमुल–यक़ीन को अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रह कर एक दृष्टिकोण बनाना होगा. यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा. तभी कविता में जान और माने पैदा होंगे.[11]

भाषा को भी साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उसमें भी कहीं–कहीं फिजूलखर्ची करनी पड़ी. बहरहाल, इस तरह की कोशिशें विचार–वस्तु के दिल और दिमाग़ में उतरने के तरीके पर निर्भर रहेंगी और ज़रूरी है कि हम अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारें, ताकि कविता भी वैसी ही जानदार हो सके जैसी कि वास्तविकताएं, जिनसे हम कविता की प्रेरणा लेते हैं. विचार–वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है; और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों.''[12]

कहना न होगा कि गोरख ने हिंदी कविता के पूरे प्रयोगवादी और नई कविता के दौर के इस विमर्श को गहराई से आत्मसात किया. उन्होंने कला के व्यक्तिकेन्द्र को अतिक्रांत करने के सिद्धांत और व्यवहार में ऊर्जा लगाई. जहां क्यूबिज़म, दादाइज़म और सुर्रियलिज़म जैसे पश्चिमी कला आन्दोलन जो कि रेनेसां कला के अनुचिंतनात्मक व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए भी अंततः आधुनिक कला की उत्पादन प्रक्रिया में निहित अलगाव से बच नहीं सके और अंततः वैयक्तिक शैलीगत आविष्कारों के रूप में ही प्रख्यात हुए वहीं गोरख ने व्यक्ति स्वर को समाज स्वर में डुबो देने की ऐसी राह निकाली जो कला के व्यक्ति केन्द्र को अपने मूल से विस्थापित करती है. कविदृष्टि के समूचे विमर्श को गोरख ने लगभग पलटते हुए अपने पक्ष को इन शब्दों में व्यक्त किया– ''जिस समय कविकर्म के बारे में मैं ज्यादा सजग हुआ, उस समय कविता की विषय–वस्तु और अन्तर्वस्तु के क्रांतिकारी रूपान्तरण का मसला प्रमुख बना हुआ था. आप जानते हैं कि यह दौर नक्सलबाड़ी और उसके बाद चले किसानों और दूसरे सामाजिक तबकों के आन्दोलनों का दौर था. कविता प्रयोगवाद और नई कविता से होकर अकविता की अन्धी गली तक आ चुकी थी और वहां से सही दिशा की तलाश में निर्णायक मोड़ ले रही थी. बहरहाल तब से सोलह–सत्रह साल गुजर गए. इस बीच कविता के क्षेत्र में जनवादी चेतना प्रबल हुयी है और यह भी कहा जा सकता है कि जनवादी कविता ही समकालीन हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्ति बन गई है.[13]

नक्सलबाड़ी आंदोलन ने साहित्य की अन्तर्वस्तु के क्रांतिकारी रूपान्तरण की

जो आवश्यकता रचनाकारों के समक्ष उपस्थित की वह इतनी इकहरी और वाह्य न थी कि उसे सहानुभूति और सद्–इच्छा के स्तर पर संभव बनाया जा सकता. एक तरफ रचनाकार के अपने भीतर का द्वंद्व था तो दूसरी तरफ शासक वर्ग की विचारध ारा का हमला. इन दोनों समस्याओं से जूझते हुए, व्यक्ति (आत्म) से पृथक यथार्थ के प्रचार को भेदना और यथार्थ के बदलाव के नियमों को समझकर उन्हें अपनी रचना में अभिव्यक्त कर पाना रचनाकार के विचारधारात्मक रूपान्तरण के बिना संभव न था. गोरख ने इस समस्या पर लिखा – "पहली समस्या है – लेखकों के विचारधारात्मक रूपान्तरण की. हमारे बहुत से रचनाकार आज की सबसे क्रांतिकारी विचारधारा – मार्क्सवाद – को अपना रहे हैं, लेकिन उसे अपने जीवन, व्यवहार और संवेदना का जीवन्त हिस्सा नहीं बना पा रहे हैं. इससे उनकी रचनाओं में विचार अनुभव और कला की वह जैविक एकता नहीं आ पाती, जो एक सही जनवादी रचना की पहचान बनाती है. मार्क्सवाद हमें अपने सामाजिक यथार्थ के विकास के नियमों को समझने और उनको बदलने तथा उन पर काबू पाने में मदद करता है, लेकिन प्रायः हम विचारों के कुछ सूत्र पकड़ लेते हैं और उनकी गहराई में जाने की कोशिश नहीं करते, जिससे हम अपनी रचना की विषयवस्तु और रूप को भी इच्छित दिशा में बदलने की क्षमता नहीं जुटा पाते. और, विचारों पर और गहरी पकड़, यह जनवादी रचना के विकास की प्राथमिक जरूरत है."[14]

गोरख रचनाकार के विचारधारातमक रूपान्तरण के प्रश्न को समाज की आर्थिक–राजनीतिक स्थिति और उनमें तेजी से आ रहे बदलावों से जोड़कर देखने का आग्रह रखते हैं. उनका विश्लेषण इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक और राजनीतिक संकट के दौर में शासन सत्ता का विरोध करने के लिए उठ खड़े हुए स्वतःस्फूर्त बौद्धिक और सामाजिक आंदोलनों में सचेत रूप से राजनीतिक दृष्टि का सन्निवेश किया जाना चाहिए. ऐसा न कर सकने की स्थिति में शासकवर्ग के भीतर के अन्तर्विरोधों में मौजूद अनेक विकृत और पतनशील दृष्टियां इस तरह के आंदोलनों का वैचारिक नेतृत्व करने लगती हैं. हिंदी साहित्य के भीतर भी 70 के दशक के आर्थिक–राजनीतिक संकट के दौरान पनपने वाले अराजक आंदोलनों और उनके

बरअक्स विकसित हुयी नक्सलबाड़ी की चेतना के विशेष संदर्भ में गोरख ने लिखा कि "गहराते आर्थिक और राजनीतिक संकट, बढ़ते जन–असंतोष और माकूल क्रांतिकारी दिशा के अभाव के चलते साहित्य में एक ऐसी अराजकता पनप चुकी थी, जिसका विचार–धारात्मक नेतृत्व साम्राज्यवादी संस्कृति के निहायत पतनशील रूप–बीटनिक– कर रहे थे. कविता यौन भावनाओं की उद्धत और बेहूदा बयानबाजी के साथ आमतौर से समाज, संस्कृति और राजनीति के हवाई मगर समूचे निषेध का माध्यम बन गई थी. शोषक वर्ग की राजनीति ने अकविता और असाहित्य के तमाम अराजनीतिक मसीहाओं को देह की राजनीति में कैद कर दिया था. नक्सलबाड़ी के किसान आन्दोलन के अर्थ और महत्व को उस समय फैले असंतोष, अराजकता और दिशाहीनता के इस अंधेरे मुकाम से देखिए."[15]

नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन की सचेत राजनीतिक दृष्टि ने हिन्दी साहित्य के भीतर रचनाकारों की एक नई पीढ़ी का विकास किया जिसने अराजकतावादी रुझानों को काफी हद तक साहित्य की परिधि की ओर विस्थापित करते हुए एक नए सौन्दर्यशास्त्र की रचना की. गोरख इस बदलाव के बारे में लिखते हैं कि "हिन्दी कविता में चल रहा अकविता और अकहानी का अराजक आन्दोलन धराशायी हो गया और कुछ को छोड़कर तमाम अकवि और अकहानीकार रचना–जगत से गायब हो गए. धूमिल, आलोकधन्वा, कुमार विकल, लीलाधर जगूड़ी आदि कवियों की रचनाओं में अन्तर्वस्तु और प्रभाव की दृष्टि से बुनियादी बदलाव आया, जिसके स्रोत की ओर संकेत करते हुए 'गोली दागो पोस्टर' में आलोकधन्वा ने लिखा है :

यह गोली दागने की समझ है
जो तमाम कलम चलाने वालों को
तमाम हल चलाने वालों से मिल रही है."[16]

नक्सलबाड़ी आंदोलन ने न केवल नई पीढ़ी के रचनाकारों को दृष्टि दी बल्कि प्रगतिशील कवियों को भी, जिनके बारे में मान लिया गया था कि प्रगतिशील आंदोलन के समापन के साथ वे भी समाप्त हो गए हैं, नई ऊर्जा से संपन्न किया. गोरख इन 'पुराने' कवियों की रचनाओं में आ रहे बदलावों के बारे में भी सचेत थे. इन कवियों

की रचनाओं में यह बदलाव नक्सलबाड़ी आंदोलन ने पैदा किया था. गोरख उन कविताओं की ओर संकेत करते हैं जो इस आंदोलन के दौर में उससे प्रभावित होकर लिखी गई थीं. ''त्रिलोचन और नागार्जुन फिर से रचना की नई जमीन तोड़ते दिखायी पड़े. त्रिलोचन की चर्चित कविता 'नगई महरा' और नागार्जुन की 'मैं तुम्हें चुम्बन दूंगा' और 'हरिजन गाथा' सीधे इस आंदोलन के माहौल में रची गई कविताएं हैं.''[17]

गोरख की काव्य दृष्टि साहित्य के लिए एक भिन्न एजेंडा निर्धारित करने की मूल चिंता से विकसित हुयी. अभी तक के कवियों के लिए 'वाह्य के आभ्यंतरीकरण और आभ्यंतर के वाह्यीकरण' की बात ही मुख्य समस्या थी. जिसका आशय था रचना–प्रक्रिया की समस्या – अभिव्यक्ति की समस्या. इस 'आभ्यंतर के वाह्यीकरण' की प्रक्रिया से उपजने वाली कविता पर आभ्यंतर की गहरी छाप देखी जा सकती है. कविता पर कवियों के व्यक्तित्व के इस न ओझल किए जा सकने वाले प्रभाव के पीछे पूंजीवादी समाज के भीतर कला को वैयक्तिक उत्पाद मानने की दृष्टि सक्रिय थी. गोरख की काव्य–दृष्टि इस पूरी परंपरा के साथ क्रांतिकारी अलगाव के रूप में विकसित होती है. इसीलिए गोरख की कविताएं और गीत इस बात का आभास देते हैं कि जैसे उन्हें किसी एक व्यक्ति ने रचा ही न हो, जैसे उन्हें किसी समूह द्वारा अपने सामूहिक जीवन के संघर्षों की आवश्यकता के मद्देनज़र रच लिया गया हो. इसका आशय यह नहीं कि उनकी रचनाओं में व्यक्तित्वहीनता है बल्कि कविताओं का अपना व्यक्तित्व है. गोरख की कविता उन लोगों की इतनी अपनी है कि उसे गाते हुए संग्रामी किसान– मजदूर यह भूल से जाते हैं कि वह किसी दूसरे व्यक्ति की लिखी हुई कविता है. अनेक क्षेत्रों में आंदोलन के संचारतंत्र से पहुँचे ये गीत अपने रचयिता के नाम के बगैर पहुँचे. वे उन इलाकों में ऐसे लोकगीतों की तरह हैं जिन्हें मानो किसी व्यक्ति विशेष ने न लिखा हो. गोरख ने कविता को सामाजिक उत्पाद बताते हुए लिखा कि –''... कविता व्यक्तियों द्वारा लिखी जाने के बावजूद मूलतः एक सामाजिक कर्म है. सामाजिक कर्म पहले तो इसलिए कि कविता सामाजिक संगठन के एक प्रमुख माध्यम –भाषा में लिखी जाती है. दूसरे यह, कि कवि का विचार, कवि–कर्म का कौशल – रूप और अन्तर्वस्तु – यह सब कुछ समाज और परंपरा से जुड़ा होता

है. इसका मतलब यह नहीं कि रचनाकार का अपना व्यक्तिगत योगदान उसमें नहीं होता. लेकिन वह खुद भी सामाजिक संबंधों की एक इकाई ही होता है. हर सामाजिक कर्म समाज के लिए उपयोगी या अनुपयोगी हो सकता है. समाज के लिए उपयोगी वह तमाम कला या कविता होती है, जो उसके विशिष्ट ऐतिहासिक दौर को व्यक्त करती है, उस दौर की समस्याओं से टकराती है और उन समस्याओं की दिशा की ओर संकेत करती है. जाहिर है हम ऐसी कविता चाहते हैं जो यह सब काम करती हो. लेकिन कविता अनुपयोगी भी हो सकती है, जैसे कि वह अपने को समाज से ऊपर या परे दिखा सकती है. समाज के सिर्फ एक हिस्से से, वह भी उसके विकास की गति रोकने वाले हिस्से से, जुड़ी हो सकती है और मनुष्य की चेतना को संवारने और गतिशील बनाने की अपेक्षा कुन्द करने में सहायक हो सकती है. हम ऐसी अनुपयोगी कविता का विरोध करते हैं.''[18]

कविदृष्टि का कायाकल्प

कला के व्यक्ति केन्द्र की समस्या समाजवादी यथार्थवाद में भी सुलझ न सकी. सर्वहारा नायक विद्रोही या फिर शंकालु अज़नबी के चरित्र बुर्जुवा यथार्थवाद के व्यक्तिकेन्द्र को तोड़ नहीं पाते. रोला बार्थ (1968) ने फ्रांसीसी नव उपन्यास आंदोलन को रेखांकित करते हुए कला के व्यक्तिकेन्द्र के विकल्प के तौर पर जीरो डिग्री राइटिंग की परिकल्पना पेश की. इसके तहत व्यक्ति– आत्म स्वयं ही उपन्यास की विषयवस्तु होता है. ऐसा साहित्य किसी वाह्य वास्तविकता को अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि आत्म का ही विवेचन करता है. उत्तरआधुनिक कला में एक अन्य रीति से लेखक के व्यक्ति स्वर को बहुस्वरीय आख्यान के जरिए विस्थापित किया गया है. किन्तु गोरख का देश काल भिन्न था और उनके लिए कला की समस्याएं सिर्फ कला के प्रयोगों से हल होने वाली न थीं. उनके लिए लोक कथाएँ, किस्से, मुहावरे और मिथक न तो अलंकरण हैं और न ही दृष्टांत बल्कि वे सामंती समाज के लोकमन की संरचनाएं हैं. गोरख के लिए कविदृष्टि से पहले कविकर्म था जो समाज बदलने के काम का अविभाज्य अंग बनकर आता है. इसीलिए गोरख की कविताएं संघर्षों के मार्मिक चित्र मात्र नहीं खींचतीं बल्कि वर्गसंघर्ष की जटिलताओं को हल करने, किसान

आंदोलन को सर्वहारा चेतना से संपन्न करने, जन–कार्यवाहियों की सुसंगत मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करने, भारतीय समाज की सत्तासंरचना को समझाने, क्रांतिकारी संघर्ष के अनुभवों को तर्कसंगत ज्ञान में बदलने तथा जनता को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में शिक्षित–प्रशिक्षित करने के काम में लगी दिखाई देती हैं. गोरख अपने लेखों में लगातार कविता के मूल्यों और मानदंड़ों की खोज करते हैं और समकालीन कविता की समस्याओं पर विचार करते हैं. गोरख की कविदृष्टि के निर्माण के सैद्धांतिक आधार इन लेखों में देखे जा सकते हैं. कविता को जनसंघर्षों के साथ एकताबद्ध करना उनके लिए बुनियादी शर्त है क्योंकि कविता इन्हीं आन्दोलनों से अपनी जीवनीशक्ति पाती है.

"इस दौर में कुछ लोगों ने आधुनिकता के नाम पर कविता को आम समाज से काट दिया है और समाज में वह बदनाम सी हो गयी है. हमें कविता को फिर से समाज की कविता बनाना होगा ताकि हमारा समाज अपनी छवि अपनी कविता में देख सके. दूसरे, आजकल समाज के विभिन्न उत्पीड़ित वर्ग और तबके न्याय, समानता और स्वतंत्रता के अपने बुनियादी अधिकारों के लिए संघर्ष में उतर रहे हैं. हम एक क्रांतिकारी परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं. हमारी आज की कविता को इस क्रांतिकारी परिवर्तन के दौर के तमाम सवालों से टकराना होगा और संघर्ष में लगे लोगों के लिए जरूरी आध्यात्मिक ऊर्जा जुटानी होगी. कवि को आत्मा का इन्जीनियर कहा गया है, काफी हद तक यह बात सही है. तमाम गलत विचारों, मूल्यों और संस्कारों को तोड़ने में कविता अहम भूमिका निभा सकती है और स्वतंत्रता की राह दिखाने के लिए भारी मशाल का काम कर सकती है."[19]

गोरख के यहां भी साहित्य के लिए मशाल का रूपक लगभग उन्हीं अर्थों में आता है जैसे प्रेमचंद के यहां. इसे हिंदी साहित्य की प्रगतिशील धारा के साथ उनके जैविक संबंध के रूप में पहचाना जाना चाहिए. कविता को जनता के जीवन से जोड़ने का प्रश्न गोरख को कभी भी सतहीपन और सरलीकरण की ओर नहीं ले जा सका. वे साहित्य को जनता के साहित्य के नाम पर एकायामी बना दिए जाने के विरुद्ध थे. उनके अनुसार जनता को सिर्फ रोटी ही नहीं सौन्दर्य की भी भूख होती है. उन्होंने लिखा कि –"हम सोचते हैं कि चूंकि हम जनता और उसके जीवन और मुक्ति के संघर्ष के बारे में

रचना कर रहे हैं, इसलिए वह जैसी भी होगी अच्छी होगी. घी का लड्डू टेढ़ो भला! लेकिन यह न भूलना चाहिए कि सौन्दर्य जनता की एक बुनियादी भावना है और हालांकि रचना में आमतौर पर निर्णायक तत्व अन्तर्वस्तु ही होती है. लेकिन कभी– कभी रूप भी निर्णायक हो जाता है. अन्तर्वस्तु और रूप के द्वंद्वात्मक संबंध पर ध्यान देकर ही रचनाएं बेहतर और पुरअसर हो सकती हैं.

हम अभी तक आधुनिक कविता और गद्य के उस ढांचे को नहीं तोड़ पाए हैं, जो जनता के करीब जाने से हमें रोकता है. सबसे अच्छी रचनाएं जनता के जीवन, व्यवहार और भाषा में मौजूद लय को पकड़कर ही बनती हैं. कलात्मकता और लोकप्रियता एक दूसरे की विरोधी नहीं, बल्कि सहयोगी हैं.''[20] हिंदी में 'जनता के लिए' साहित्य लिखने के नाम पर सपाट वक्तव्यों और विवरणात्मक साहित्य का उत्पादन किया जाने लगा था. इस विवरणात्मकता को खारिज करते हुए जनवादी साहित्य के विरोधियों ने कलात्मकता को जटिलता का पर्याय बनाकर उपस्थित किया. उन्होंने तर्क दिया कि जनता को समझ में आने वाली रचनाएं करने की आड़ में इस तरह का साहित्य लिखा जा रहा है जिसे साहित्य कहा ही नहीं जा सकता. गोरख ने समग्र यथार्थ को पकड़ने के बहाने उबाऊ विवरण परोसने और इसे बहाना बनाकर जनवादी साहित्य को खारिज कर देने की प्रवृत्तियों का उन्होंने विरोध करते हुए लिखा कि – ''कला रचना सचेतन चयन की प्रक्रिया है, जिसमें यथार्थ के किसी महत्वपूर्ण या सारभूत पहलू को पकड़ा जाता है और उसे घटना, चरित्र या स्थिति के जरिए चित्रित किया जाता है. इस प्रक्रिया में यथार्थ के ढेर सारे अप्रासंगिक आयाम विस्तार छोड़े जाते हैं और प्रतिनिधि तत्व को मूर्त रूप दिया जाता है. कला के क्षेत्र में सरलता का मतलब यथार्थ के किसी एक अंग का अनुवाद नहीं है. इसका मतलब माध्यम की संप्रेषणीयता को व्यापकतम बनाना है. चूंकि संप्रेषण के सारे माध्यमों की मूल प्रवृत्ति अर्थ को बड़े से बड़े पैमाने पर पहुंचाने की होती है, इसलिए कला की सरलता संप्रेषण की सार्वजनीनता की बुनियादी मांग का ही एक रूप है.

कला–घटना, स्थिति या पात्र के जरिये यथार्थ और जीवन के सार–तत्व को

उद्घाटित करती है. वह यथार्थ के विस्तार में से बहुत कुछ छोड़ देती है. यह सच है, लेकिन इसके बावजूद वह एकायामी नहीं होती. वस्तुगत और आत्मगत आयामों की अन्तःक्रिया से उपजी कला विश्व–दृष्टि के सहारे हर स्थिति, घटना या पात्र को उसके उद्भव, विकास और उसकी दिशा के परिप्रेक्ष्य में रखती चलती है. रचना में गहराई और व्यापकता होने का अर्थ यथार्थ के सारे आयामों को एक साथ रखना नहीं है. वह है चुने हुए पात्रों, घटनाओं और स्थितियों के जरिये यथार्थ की गति का अर्थ खोलना. अगर कला की सरलता का अर्थ यथार्थ की गति को सार्वजनीन रूप से सम्प्रेषणीय बनाना है तो सरलता और एकायामिता में फर्क करना होगा.''[21]

लोकप्रियता और कलात्मकता के बीच सचेत ढंग से अंतर्विरोध खड़ा करने का प्रयत्न किया गया. एक ऐसी भाषा का आविष्कार किया गया जो जनता को सहजता से कुछ भी संप्रेषित कर पाने में अक्षम थी. असंप्रेषणीयता और दुर्बोधता को कलात्मकता के नाम पर प्रतिष्ठित किया गया. गोरख ने इसे खतरनाक प्रवृत्ति मानते हुए लिखा कि – ''प्रयोगवाद और नई कविता के दौरान भाषा, मुहावरा, बिम्ब, प्रतीक और विचार के स्तर पर कविता को जनता की चेतना से और दूर ले जाने की कोशिश की गई. इसके फलस्वरूप हिन्दी की एक ऐसी कविता का जन्म हुआ, जो हिन्दी भाषी जनता से अलग हुयी और सिर्फ लेखकों के बीच या कुछ विशिष्ट कलाभिरुचि वाले लोगों में प्रचलित हुयी.''[22]

TH-19438

Nehru Univers... Library

प्रयोगवाद और नई कविता ही नहीं जनवादी कवियों का भी एक हिस्सा जटिलता के मोह से स्वयं को बचा नहीं पाया. गोरख ने इसके वर्ग चरित्र की पहचान की और जनवादी होने के इसके दावे को बड़बोलापन बताते हुए लिखा – ''(निम्न पूंजीवादी दृष्टि) शासक वर्ग और जनता की दृष्टियों के बीच रास्ता बनाने की कोशिश करती है. यह प्रवृत्ति जनवादी कविता के भीतर से काम कर रही है और कविता के प्रयोगवाद और नई कविता वाले ढांचे में हेर–फेर करके कविता बनाने की मांग करती है. यह जन जीवन के प्रति निष्क्रिय सहानुभूति और यथार्थ के प्रति अपेक्षाकृत अमूर्त रूप अपनाती है.... अगर इसे आलोचना के जरिए उद्घाटित नहीं किया गया या यह खुद आत्म आलोचना करके अपनी संकरी सीमाएं न लांघ

पायी तो शासक वर्ग की कला दृष्टि से खुराक लेने और बदले में उसे मजबूत करने का इसका रुझान और बढ़ेगा''[23] गोरख इस निम्न–पूंजीवादी रचनादृष्टि की आलोचना प्रस्तुत करने के साथ कविता में जन–दृष्टि का विकास कर रहे थे. इस जन–दृष्टि को वे नए आविष्कार की तरह न देखकर प्रगतिशील आंदोलन की परंपरा के विशिष्ट विकास के रूप में देखते हैं, जिसका संस्कार नक्सलबाड़ी के किसान विद्रोह ने किया था. ''दूसरी तरफ, आम जनता के व्यापक हितों, उसकी मुक्ति के उद्देश्यों, उसके जीवन और संघर्षों को लेकर चलने वाली सर्वहारा की दृष्टि है. प्रगतिशील आंदोलन के समय से ही यह दृष्टि हिन्दी कविता में सक्रिय रही है. 1967 और उसके बाद हुए किसान आंदोलनों की ऊष्मा से भरपूर जिस दृष्टि ने कविता को शासक वर्ग के कलात्मक पतन के दौर से, अकविता के दौर से, मुक्त किया और फिर से यथार्थ के व्यापक और क्रांतिकारी बोध की ओर मोड़ा, वह यही दृष्टि थी.''[24]

जनवादी कविता आधुनिकतावाद के चरम निषेध और शास्त्रीयतावाद के प्रतिगामी मूल्यों के साथ संघर्ष करते हुए विकसित हुयी. गोरख ने इन दोनों धाराओं द्वारा प्रस्तुत किए जा रहे मूल्यों के विचारधारात्मक आधारों को न केवल समझाया बल्कि साहित्य के क्षेत्र में उनके प्रतिसिद्धांतों की रचना भी की. इन दोनों धाराओं का प्रत्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा कि – ''हमारे देश में कला–क्षेत्र में दो प्रवृत्तियां हावी हैं – शास्त्रीयतावाद और आधुनिकतावाद. शास्त्रीयता से मतलब यह कि कलाओं के अतीत में हमारे यहां जो रूप, संरचनाएं विकसित हुईं उन्हीं को श्रेष्ठ कलाएं बताने और उनके अनुसरण पर जोर देने से है. सवाल यह है कि कलाओं के ये प्राचीन रूप उस समय की जरूरतों के अनुरूप थे. अब वे स्थितियां नहीं हैं, ऐसे में उन्हीं रूपों से जुड़े रहना कला के विकास को पीछे ले जाना है. ये प्रतिगामी रुझान उन शक्तियों की मदद करते हैं, जो सामन्ती मूल्यों को प्रश्रय देती हैं.

आधुनिकतावाद इस सदी में वाद के रूप में योरोप में जन्मा. इससे प्रभावित बुर्जुआ सिद्धांतकारों की कोशिश से शुरू का मूर्त व्यक्तिवाद निहायत अमूर्त मनोगतवाद में बदल गया. इस तरह संस्कृति का निषेधवादी, भाववादी दृष्टिकोण विकसित किया गया. चूंकि हमारे देश में आजादी के बावजूद सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर औपनिवेशिक घाव हमेशा बने रहे, इस कारण आधुनिकतावाद

को फैलने की तैयार जमीन मिली.''[25]

आधुनिकतावाद ने हिंदी साहित्य में निराशावाद और संत्रास को मूल्य के रूप में स्थापित किया जिससे कविता आम आदमी से दूर होती चली गई. गोरख की बुनियादी चिंता कविता को आम आदमी के निकट लाने की है. इसके लिए उन्होंने सरलता के पक्ष में सैद्धांतिक स्तर पर संघर्ष चलाया और व्यावहारिक स्तर पर अपनी कविता के माध्यम से इसे संभव बनाया. कहना न होगा कि सरलता की यह साधना कितनी कठिन रही होगी. उन्होंने कविता को जनता से जोड़ने की अपनी चिंता को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया – ''कविता मनुष्य की भाषिक अभिव्यक्ति का बुनियादी रूप है. इस बीच समस्या यह रही है कि कविता देश के आम आदमी की जीवनधारा से कटती चली गयी. गीत को ऐतिहासिक तौर पर अप्रासंगिक बताने की कोशिश की गई..... मेरी चिन्ता यही है कि कैसे कविता को फिर से जनता के जीवन और उसकी आजादी के संघर्षों का वाहक बनाया जाए.''[26]

कविता राजनीतिक संगठक का काम कर सकती है – गोरख कविता की इस भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं. जनता का पक्षधर बौद्धिक उत्पादन जनता चेतना में बिखरे हुए विचार के तत्वों को संगठित, परिमार्जित और विकसित कर सकता है. कविता की इसी भूमिका पर बल देते हुए गोरख ने लिखा कि – ''कविता एक आध्यात्मिक – वेदान्त नहीं – रचना होती है. जनता में आवेग और विचार बिखरे होते हैं. चिन्तक उन्हें एक सूत्र में बांधता है. कविता भी बिखरी भावनाओं को सौन्दर्य बोध से संगठित दिशा की ओर ले जाने की कोशिश करती है. कविता प्रामाणिक रूप से जनान्दोलन की जमीन तैयार कर सकती है. यदि वह परिवर्तन के बजाय यथास्थिति की तरफदार होगी तो समाज में वैसा ही असर पैदा करेगी''[27]

कहते हैं साहित्य की सामर्थ्य का मूल्यांकन इस बात से होना चाहिए कि क्या उसने शासकों के सामने इस तरह चुनौती खड़ी की कि उसे भय महसूस हुआ हो. डरा हुआ व्यक्ति या व्यवस्था अधिक आक्रामक होते हैं और भय के कारण पर हमला कर देते हैं. यदि भय का कारण साहित्य है तो उस पर भी हमला होना लाज़मी है. जनवादी साहित्यकारों और साहित्य पर राज्य दमन उनकी सार्थकता का प्रमाण है. गोरख दमन के

घटाटोप के बीच जन–संघर्षों की रोशनी के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि – "इस समय शासक वर्ग स्वतंत्रता की हमारी बहुत बुनियादी इच्छा और उसकी अभिव्यक्ति से भी घबरा रहा है. वह सच्चाइयों के जाहिर होने से चिंतित है. लेकिन जैसे–जैसे जनता के भीतर शासक वर्ग के खिलाफ विद्रोह की भावना बढ़ रही है, कविता और कला को एक मजबूत सामाजिक आधार प्राप्त होता जा रहा है. जैसा कि ब्रेष्ट ने कहा है – " अंधकार के युग में भी लिखी जाती हैं अंधकार के बारे में कविताएं." लेकिन हमारी स्थिति सिर्फ ऊपर से फैले अंधकार के बीच नहीं है, हम नीचे से उत्पीड़ित लोगों के संघर्ष से फूटती हुयी रोशनी के बीच में भी जी रहे हैं और कविता सिर्फ अंधकार के बारे में नहीं, अंधकार को तोड़ने वाली रोशनी के औजारों के बारे में भी लिखी जा रही हैं और लिखी जाएगी. शासक वर्ग की कार्यवाहियां कला और कलाकारों के ऊपर अभी और दमनकारी रूप लेंगी. साथ ही, कला में तथा कलाकारों में, दमन के प्रतिरोध की भावना और प्रबल होगी. कविता को दमन के जरिए खत्म नहीं किया जा सकता है, जैसे तूफानों से हरी दूब को खत्म नहीं किया जा सकता"[28]

यह स्पष्ट है कि गोरख की काव्यदृष्टि का निर्माण अपने समय की प्रचलित शासकवर्गीय और निम्नपूंजीवादी दृष्टियों से टकराते और बहस करते हुए हुआ था. इस दृष्टि की परंपरा में मुक्तिबोध आते हैं जिन्होंने कविता में कहने की आदत न होने के बावजूद कहा कि "वर्तमान समाज चल नहीं सकता", धूमिल आते हैं जिन्होंने कविता के कविता होने से पहले एक सार्थक वक्तव्य होने की मांग की.

गोरख की काव्य दृष्टि के मूल्यांकन

आधुनिक हिंदी कविता भारत के स्वतंत्रता आंदोलन से शुरू होती है. उसका सबसे प्रौढ़ रूप असहयोग आंदोलन के समय छायावाद के रूप में सामने आता है. इस आजादी के आंदोलन का वर्ग चरित्र जनपक्षधर रचनाकारों के सामने छायावाद की समाप्ति तक स्पष्ट होने लगा और अब सामान्य राष्ट्रीय भावना के स्थान पर उसको जमीनी रूप देने वाले किसान– मजदूर के जीवन का बयान करने वाले प्रगतिशील आंदोलन के लिए जगह खाली हो गयी. कविता में लोकभाषाओं के पक्षधर कवि उभरने लगे. प्रगतिशील आंदोलन का दायित्व था गांधी–नेहरू के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के बरअक्स उसकी आलोचना विकसित करते हुए वकीलों और बाबुओं के

राष्ट्रवाद की जगह आम जनता की आकांक्षाओं को स्वर देना. प्रगतिशील आंदोलन के रचनाकारों ने तो अपने इस कार्यभार के साथ न्याय किया लेकिन उनके सिद्धांतकार 1947 के बाद नेहरू की प्रगतिशीलता के पक्षधर हो गए. आजादी के बाद के प्रगतिशील आंदोलन की सबसे बड़ी ट्रेजिडी यही रही है कि जहां उससे जुड़े रचनाकार सत्ता के छद्म और जनविरोधी चरित्र को उजागर करने में लगे रहे, वहीं उनका राजनीतिक नेतृत्व भारतीय शासक वर्ग के बारे में भ्रम पाले रहने से स्वतंत्र जनान्दोलन नैतिक तर्क और साहस खो बैठा. शासक वर्ग के स्वाभाविक विपक्ष के नेतृत्व की जिम्मेदारी से वामपंथ के पीछे हटने के बाद हिंदी कविता में दो तरह की प्रक्रियाएं चल पड़ीं.

एक तरफ तो अमरीकी प्रतिष्ठान से जुड़े कवियों ने साहित्य का नेतृत्व थाम लिया और कलावाद व निराशावाद को साहित्य के मूल्य के रूप में स्थापित किया जाने लगा. वहीं दूसरी तरफ हिंदी जगत के मोहभंग का वैचारिक नेतृत्व लोहिया के समाजवाद ने शुरू किया. सुसंगत विरोध अथवा विपक्ष की जगह अराजक विद्रोह ने ले ली और कविता में अभिजात्य के नकार को समाज में अभिजात्य के टूटने के बतौर देखा जाने लगा. वस्तुतः समाज बदल नहीं रहा था इसीलिए इस विद्रोह में भी निराशा के गहरे तत्व समाए हुए थे. ऐसे में नक्सलबाड़ी विद्रोह ने चेतना की एक दूसरी ही परत खोल दी. "नक्सलबाड़ी आंदोलन का वैचारिक असर भक्ति आंदोलन, स्वतंत्रता आंदोलन या प्रगतिशील आंदोलन की तरह अखिल भारतीय रहा. इस आंदोलन ने जहां साठोत्तरी विद्रोह को व्यवस्थित जमीन दी वहीं प्रगतिशील आंदोलन की भी असंगतियों को दूर करने में लेखकों कवियों की मदद की. हिंदी कविता में फिर से किसान– मजदूर आए और लोकभाषाओं की आहट सुनाई पड़ने लगी."[29]

इस तरह की कविता और कविदृष्टि के निर्माण के सैद्धांतिक आधारों की खोज कुछ रचनाकारों व आलोचकों को गलत निष्कर्षों तक ले गई. नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रभाव से पैदा हुयी कविता को अकविता के आंदोलन के साथ जोड़कर देखने की कोशिश की गई. राजेश जोशी ने लिखा कि "1967 के आसपास आए राजनीतिक बदलाव ने अकविता के 'प्रतिभा संपन्न अल्पसंख्यकों को संबोधित'

असंप्रेषणीयता और असंबद्धता पर जोर देने वाली नकली आधुनिकतावादी कला के तिलिस्म को धराशायी कर डाला. नक्सलबाड़ी के सशस्त्र विद्रोह का कविता पर गहरा असर हुआ, लेकिन इसके साथ ही कविता ने अकविता की अराजकता के कपड़े उतार कर दूसरी अराजकता के कपड़े पहन लिए. राजनीतिक सार के रूप में विचार करें तो कई बार लगता है जैसे एक हद तक लोहियावादी आक्रामक निषेधात्मकता का ही यह वामपंथी संस्करण है. परोक्ष रूप से यह भी साम्राज्यवादी कोशिशों में सहायक सिद्ध हुआ. लक्ष्य किया जाना चाहिए कि सारी जनतांत्रिक पद्धति और उसमें हिस्सा लेने वाले वामपंथी दलों को भी दोगला मानने वाली इस उग्र वामपंथी तेवर की कविता में सशस्त्र जनवादी क्रांति का आहवान था, पर न तो इस कविता में किसानी जीवन और संघर्ष के चित्र थे और न ही किसानी संवेदना. उसके सारे नायक, दृश्य और संवेदना वस्तुतः मध्यवर्गीय और शहरी हैं. ..... इस कविता को निषेधात्मकता की प्रकृति अकविता से ही विरासत के रूप में मिली थी. लोहियावाद और अकविता की अराजकता का संबंध क्या है ? इस विद्रोही कविता और लोहियावाद के बीच संबंध क्या है ? और प्रवृत्ति के रूप में लोहियावाद और नक्सलवाद के बीच क्या संबंध है ? सशस्त्र क्रांति और मार्क्सवाद का विरोध करने वाली लोहियावादी आक्रामक निषेधात्मकता और सशस्त्र जनवादी क्रांति में विश्वास करने वाली नक्सली आक्रामक निषेधात्मकता के रेशे किस--किस जगह आपस में जुड़े हैं, इसे देखने की जरूरत है.''[30] यहां नक्सलबाड़ी आंदोलन को अराजकतावादी, प्रतिक्रियावादी और नकारात्मक आंदोलन बताया गया है और इसके प्रभाव वाली कविता के आंदोलन को भी.

नक्सलबाड़ी का आंदोलन अचानक कुछ समय के लिए 'एक दुर्घटना' की तरह नहीं घटित हुआ था. 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम अपनी क्रांतिकारी किसान चेतना की अंतर्वस्तु के चलते राष्ट्रवाद की बुनियाद बना. वहां से शुरू हुए क्रांतिकारी आंदोलन का विकास नौसैनिक विद्रोह, बंगाल के तेभागा और आंध्र प्रदेश में तेलंगाना आंदोलन से होते हुए नक्सलबाड़ी के आंदोलन में परिणत हुआ था. यह ऐसा आंदोलन था जिसमे पहली बार अखिल भारतीय स्तर पर किसानों--मज़दूरों द्वारा 'सत्ता दखल'

के स्वप्न को साकार करते हुए समतामूलक समाज की स्थापना का जोरदार प्रयास किया गया था. बौद्धिकों का जो हिस्सा देशी बुर्जुआ के प्रगतिशील होने, उसके राष्ट्रवादी होने का भ्रम न केवल पाले हुए था बल्कि सचेत रूप से फैला रहा था, उसके पास इस आंदोलन को अराजकतावादी और नकारात्मक कहने के अतिरिक्त और कोई रास्ता न था. इस तरह के विश्लेषण अनैतिहासिक इतिहास–दृष्टि के शिकार थे और बदलती परिस्थितियों का जड़ विश्लेषण ही पेश कर सके. लोहियावाद निश्चित रूप से कोई क्रांतिकारी विचारधारा न थी. उसने मार्क्सवाद का तीखा विरोध किया, लेकिन सत्ताधारी कांग्रेस के तीखे विरोधी के रूप में समाज में और साहित्य में लोकप्रिय हुआ. उस समय नक्सलबाड़ी के अतिरिक्त वामपंथ की कोई दूसरी आवाज न थी जो इससे स्वतंत्र ढंग से अपने समाज का सही वर्गीय विश्लेषण पेश कर सकती. परंपरागत वामपंथ की स्थिति कांग्रेस के प्रचारक की रह गई थी. उस समय में कांग्रेस जोर–शोर से यह प्रचारित कर रही थी कि – कुछ साम्राज्यवादी देश भारत को पुनः विभाजित करना चाहते हैं. जो लोग भी सामाजिक परिवर्तन की बात कर रहे हैं वे देश की एकता और अखंडता के विरोधी हैं. देशद्रोही नक्सलवादी साम्राज्यवादी देशों की साजिश में शामिल हैं और उनके निर्देशों के तहत ही राष्ट्रविरोधी गतिविधियां संचालित कर रहे हैं. कांग्रेस पार्टी के प्रचार अभियान का हिस्सा तमाम 'जनवादी' लोग भी बने और नक्सलवाद को साम्राज्यवाद की साजिश के रूप में प्रचारित करने में लग गए. गोरख ने अपनी कविता 'उसको फांसी दे दो!' में इस परिघटना को यों व्यक्त किया –

वह कहता है अब वह सबके साथ चलेगा
वह शोषण पर टिकी व्यवस्था को बदलेगा
किसी विदेशी ताकत से वह मिला हुआ है
उसको इस गद्दारी का फल तुरत मिलेगा
आओ देशभक्त जल्लादो !
पूंजी के विश्वस्त पियादो!
उसको फांसी दे दो ![31]

इसी लेख में राजेश जोशी ने आगे लिखा कि "हमारे समय के अधिकांश सोशल डेमोक्रेट कवियों की एक अजब सी स्थिति है. एक ओर वे शोषण विहीन समाजवादी समाज के लक्ष्य से डरते हैं और दूसरी ओर बुर्जुआ जनतंत्र के इस पतनशील दौर के आलोचक भी हैं. ऐसी स्थिति में वे या तो अतीत का राग अलापने लगते हैं या ऐसी निषेधात्मक वैचारिक स्थिति की ओर ले जाते हैं जो अन्ततोगत्वा, तानाशाही के अलावा और कहीं नहीं ले जाती."[32] यहां 'सोशल डेमोक्रेट' से उनका आशय लोहियावादी कवियों से है.

1975 में इंदिरागांधी द्वारा लगाई गई इमर्जेंसी ने मध्यवर्ग के रचनाकारों की जनवादी प्रतिबद्धता को हिला कर रख दिया था. राजेश जोशी तानाशाही के लिए जिम्मेदार सही सामाजार्थिक कारणों की खोज उस समय की अर्थव्यवस्था के संकट और गरीबों पर बढ़ते दमन में करने की जगह एक आसान रास्ते की तलाश कर लेते हैं. जिन भी वर्गीय हितों या कारणों के चलते जो भी लोग इमर्जेंसी का विरोध कर रहे थे उन्हीं को इमर्जेंसी के लिए जिम्मेदार ठहराना शुरू कर देते हैं.

नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रभाव से पैदा हुयी हिंदी कविता को या तो आलोचकों की उपेक्षा का सामना करना पड़ा या पदाघात का. 70 के दशक में हिंदी में अकविता का आंदोलन जोरों पर था. अपने समय और समाज की वास्तविक समझ के अभाव में इन कवियों ने हर चीज को नकारना शुरू करके एक दिशाहीन विद्रोह को जन्म दिया. इनमें से अधिकांश का सारा विद्रोह स्त्री देह तक ही सिमटा रहा. अकेलेपन, घुटन, संत्रास, एब्सर्डिटी, निरर्थकता और अराजकता की इस मिलीजुली प्रवृत्ति को हिंदी में 'अकविता' के नाम से जाना गया. अपनी सारी सीमाओं के बावजूद अकविता आंदोलन आभिजात्य नैतिकता और नई कविता के मध्यवर्गीय जीवन बोध को छिन्न–भिन्न कर रख देने वाला आंदोलन था. सन् साठ के बाद बदली हुई परिस्थितियों से उत्पन्न मोहभंग ही इस कविता की ताकत थी. इसी मोहभंग ने उसके स्तर को विद्रोही और आक्रामक बनाया. लेकिन इस कविता की सबसे बड़ी सीमा यह थी कि यह विद्रोह अपनी बौखलाहट से बाहर जाकर कोई सही रास्ता तलाश नहीं कर पाया. नक्सलवादी कविता इस नकार और बौखलाहट के बीच समतामूलक समाज व्यवस्था के निर्माण के लक्ष्य के साथ हस्तक्षेप करती है. उसने इस प्रवृत्ति को

नकारते हुए हिंदी कविता को जनान्दोलन से जोड़ने का एजेंडा सामने रखकर अकविता द्वारा स्थापित निराशा, कुंठा, संत्रास आदि काव्य–मूल्यों से उसे मुक्त किया. बावजूद इसके आलोचकों ने परस्पर विरोधी दो प्रवृत्तियों को एक साथ संबद्ध करके अपने मूल्यांकन प्रस्तुत किए.

अकविता और नक्सलवादी कविता का संबंध जोड़ते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा कि "अकवि ज्यादातर स्त्री के यौन विजेता दिखने और युवा कवि सामाजिक क्रांति के अगुआ दिखने वाली मुद्राओं के बंदी और शिकार थे."[33]

नंद किशोर नवल का मानना है कि "अकविता से आक्रांत हिंदी कविता तुरंत उसके (नक्सलबाड़ी आंदोलन के) प्रभाव में आ गई, जिसके परिणामस्वरूप उसमें शयनागार की शब्दावली की जगह शस्त्रागार की शब्दावली ने ले ली. चतुर्दिक गोली बारूद की आवाज सुनाई देने लगी और बारूद की गंध उड़ने लगी.[34]

अजय तिवारी का कहना है कि "अकवियों के लिए कविता 'गाली' थी तो विद्रोही कवियों के लिए 'गोली'. जिसे देखिए, वही पूछता था, दावानल भड़काऊं."[35]

अकविता और नक्सलबाड़ी के प्रभाव में लिखी गई कविता में मोहभंग ही साझा तत्व है. इन आलोचकों ने इस समानता को तो लक्ष्य किया लेकिन मोहभंग की अभिव्यक्तियों, अभिव्यक्ति के रूपों में बदलाव और मोहभंग के विश्लेषणों को नज़रअंदाज कर दिया. नज़रअंदाज करने के पीछे स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य आलोचकों की भाषा से ही जाहिर है. ये सारे ही आलोचक दक्षिणपंथ से संबद्ध कदापि नहीं हैं. इनका संबंध भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की उस धारा के साथ है जो धीरे–धीरे सामाजिक जनवादी पार्टी के रूप में स्वयं को रूपान्तरित कर रही है. इनके लिए किसी भी तरह की 'बदलाव की बात' तो एकदम स्वीकार्य है लेकिन सिर्फ बात. उस दिशा में आगे कार्यान्वयन के लिए बढ़ना इन्हें बहुत नागवार गुज़रता है. ऐसे लोगों के खिलाफ ये अपने सारे औजार लेकर उठ खड़े होते हैं. नक्सलबाड़ी की कविता और अकविता के बुनियादी अन्तरों को स्पष्ट करते हुए सियाराम शर्मा ने ठीक ही लिखा कि " अकविता और सातवें–आठवें दशक की संघर्षशील कविता दो भिन्न विचारों और मूल्यों की कविताएं हैं. मोहभंग के स्तर पर इससे जुड़ते हुए भी अकविता

मूल रूप से कुंठा, संत्रास, निराशा, हताशा और स्त्रियों के प्रति शासक वर्ग के मूल्यों को प्रचारित–प्रसारित करने वाली हिंदी की ह्रासशील कविता है. अकविता के अंधेरे से हिंदी कविता को बाहर निकाल लाने का कार्य इन्हीं संघर्षशील युवा कवियों ने किया. इनकी कविता में अकवितावादियों के कुंठा, पराजय, मृत्युबोध, संत्रास और निरर्थकता की जगह जीवन के प्रति आस्था और विश्वास का प्रबल स्वर है. यह सच है कि आक्रोश, आक्रामकता और साहसीपन अकविता में भी है पर वहां आक्रोश और आक्रामकता का निशाना सिर्फ स्त्री देह और साहसीपन कुछ वर्जित शब्दों के प्रयोग तक सीमित है. लेकिन इन संघर्षशील कवियों के आक्रोश और आक्रामकता की जड़ें सामाजिक राजनीतिक स्थितियों में हैं. इनका साहसीपन सत्ता और व्यवस्था की क्रूरता का सामना करते हुए भी सच को कहने में है. अकवितावादियों के यहां घृणा, अस्वीकार और विद्रोह का स्वर जिन सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों से पैदा हो रहा था उसकी वस्तुगत समझ के अभाव के कारण वहां निराशा का भाव ही ज्यादा प्रमुख है. अंत में उनके यहां रह जाती है सिर्फ एक छटपटाहट और बौखलाहट. इस छटपटाहट और बौखलाहट में ताकत तो थी पर कोई दिशा नहीं थी. इसके विपरीत नक्सलबाड़ी के विद्रोह ने संघर्षशील युवा कवियों को एक क्रांतिकारी विचारधारा, स्वप्न और निश्चित भविष्य–दृष्टि प्रदान की. इसीलिए उन्होंने अपने गुस्से और आक्रोश को भारतीय जनता के गुस्से और आक्रोश से जोड़कर हिंदी कविता को नई दिशा प्रदान की. इन लोगों ने अकविता के संदर्भहीन और दिशाहीन विद्रोह को संस्कारित और संदर्भित किया.''[36]

गोरख और उनकी धारा के दूसरे कवियों की कविदृष्टि का निर्माण जिस तरह के भिन्न और साहित्य की मुख्यधारा से बाहर के प्रश्नों से टकराते हुए हुआ था, उसकी एक विशिष्टता यह भी है कि अब कवि कविता में भी कविता पर विचार कर रहा था, वक्तव्य दे रहा था. धूमिल पहले ही कविता से सार्थक वक्तव्य होने की मांग कर चुके थे. नक्सलबाड़ी आंदोलन के प्रभाव में उन्होंने कविता की मुक्ति का रास्ता ढूंढ़ते हुए उन्होंने लिखा – 'अगवा बंदूक की निशानदेही पर / कविता ने ढूंढ़ लिया है मुक्ति का रास्ता.' इस पीढ़ी के कवियों द्वारा अपनी कविता में कविता से अपनी अपेक्षा और कविता के उद्देश्य पर दिए जा रहे वक्तव्यों को लक्ष्य करते

हुए राजेश जोशी ने लिखा कि "कविता में कविता पर विचार करना या टिप्पणी करना एकाएक क्यों एक समय में आवश्यक हो गया इस पर भी विचार किया जाना चाहिए. क्या इस दौर में एकाएक कविता के लिए कोई नया सृजनात्मक संकट उपस्थित हो गया था ? या यह अपने सृजनकर्म के प्रति कहीं संशय पैदा हो रहा था ? कविता के अपने समाज से संवाद के क्षीण हो जाने या एक हद तक खत्म हो जाने ने भी कवियों को कहीं प्रश्नाकुल बनाया होगा."[37]

कुमार विकल जैसे कवियों के लिए सिसकियों और दमन से उपजी हुयी भाषा ही काव्यभाषा है. कविता की भाषा आदमी के शरीर पर अत्याचार की भाषा से मिलती हुयी है. नक्सलबाड़ी के कवि अत्याचार की इस लिपि को पढ़ने का काम अपनी कविता को सौपते हैं –

"हम उन टापों की आवाज़ से भागकर कहां जाएं
'हम' जो उन्हें सिवाने तक पहुंचाने गए थे लालटेन लेकर
सुनो जरा सुनो
नहीं, कोई कविता गुनगुना रहा है
नहीं, कोई कविता सिसक रहा है
यह सिसकी आवाज़ में है
इस कविता की कौन सी भाषा है
यह तो आदमी के शरीर पर अत्याचार की लिपि में लिखी हुई
भाषा है,[38]

इसी धारा के कवि आलोक धन्वा के लिए कविता और जनसंघर्षों का जुड़ाव इतना आवयविक है कि वे लिखते हैं –

यह गोली दागने की सही समझ है
जो तमाम हल चलाने वालों से
तमाम कलम चलाने वालों को मिल रही है[39]

गोरख पाण्डेय इस धारा के कवि ही नहीं सिद्धांतकार भी थे. वे संस्कृति को वैयक्तिक उत्पादन मानने की पूंजीवादी दृष्टि के बरअक़्स इसे सामूहिक श्रम के उत्पाद

के रूप में स्थापित करने की हिमायत कर रहे थे. "कविता की भूमिका के बारे में अनेक मान्यताएं हैं. कुछ लोग तो जैसा कि आप जानते ही हैं, यह मानते हैं कि कविता की कोई सामाजिक भूमिका नहीं, बल्कि व्यक्ति की चेतना और भावना के लिए होती है. हम इस नजरिए का विरोध करते हैं."[40]

गोरख ने कला साहित्य की सामाजिक भूमिका का सैद्धांतिक विश्लेषण पेश करने के साथ अपनी कविता पर भी वैसी ही धार चढ़ाई. हिंदी साहित्य में तेज होते जा रहे कलावादी स्वर के साथ उन्होंने अपने लेखों में ही नहीं कविता में भी बहस की. उनका मानना था कि कलावादी तर्क मूलतः सामाजिक परिवर्तन की कविता के खिलाफ, यथास्थिति को बनाए रखने के लिए पूंजीपति वर्ग द्वारा खड़ा किया गया जाल है.

कला कला के लिए हो
जीवन को ख़ूबसूरत बनाने के लिए
न हो
रोटी रोटी के लिए हो
खाने के लिए न हो
मज़दूर मेहनत करने के लिए हों
सिर्फ़ मेहनत
पूंजीपति हों मेहनत की जमा–पूंजी के
मालिक बन जाने के लिए
यानी, जो हो जैसा हो वैसा ही रहे
कोई परिवर्तन न हो"[41]

कलावाद के खिलाफ गोरख के संघर्ष पर विचार करते हुए सियाराम शर्मा ने लिखा कि "यह सच है कि व्यापक प्रचारतंत्र तथा चमक–दमक के सहारे कला का जादू लोगों के सर चढ़कर बोलता है पर इसके बिकाऊ स्वरूप के अन्तर्विरोध जल्द इससे मोहभंग करते हैं –

आग के ठंडे झरने सा

बह रहा था

संगीत

जिसे सुना नहीं जा सकता था

कम–से–कम

पांच रूपयों के बिना.

.....

जादू टूट रहा है –

मुझे लगा– स्वर्ग और

नरक के बीच तना हुआ

साफ़ नज़र आता है

यहां से

पुलिस का डंडा''

पूंजीवादी समाज में जनसाधारण से कटी कला और संस्कृति के बिकाऊ स्वरूप के अंतर्विरोध को गोरख अच्छी तरह पहचानते हैं. यहां जनता और बुर्जुआ संस्कृति के बीच एक दीवार खींच दी जाती है. कला की साधना और आस्वाद चंद लोगों तक सीमित रहता है''[42]

गोरख अपनी कविता को, अपने शब्दों को शोषण और हत्या के षड्यंत्र के खिलाफ एक औजार के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे. अनाज, आज़ादी और सच के लिए 'धमन भट्ठी' में ढले शब्दों को सीधे कह देना चाहते थे. ठीक वैसे ही जैसे मुक्तिबोध 'अंधेरे में' कविता में सीधे–सीधे बात कहने को तड़प जाते हैं –

कोई मेरी बात मुझे बताने के लिए ही

बुलाता है – बुलाता है

हृदय को सहला मानो किसी जटिल

प्रसंग में सहसा होठों पर

होठ रख, कोई सच–सच बात

सीधे–सीधे कहने को तड़प जाए[43]

'तुम जहां कहीं भी हो' शीर्षक कविता में गोरख के यहां 'हकलाहट' अभिव्यक्ति का संकट नहीं, वर्ग रूपान्तरण की प्रक्रिया का आत्मसंघर्ष है –

मैं कहना चाहता हूं
कि जनता के लिए
अनाज और आज़ादी की
तरह सच भी
जरूरी है
लेकिन मैं जानता हूं कि
तुम्हें अपने पर भरोसा नहीं है
तब शब्दों पर क्या होगा
जबकि उनके स्रोत तुम्हीं हो
मैं कहना चाहता हूं
बहुत कुछ
क्योंकि शब्द कहे जाने हैं
अगर हमारे बीच रिश्ते बने
रहने हैं
अगर हत्या, झूठ और
नफरत को रोका जाना है
सच्चाई के
धमन भट्ठी में ढले शब्द
कहे जाने हैं
लेकिन मैं चुप रहता हूं
या फिर बेचैन
या हकलाने लगता हूं।[44]

हिंदी साहित्य में जनता से पृथक कलावादी दृष्टि ने 80 के दशक में 'कविता की वापसी' का नारा तेजी से बुलंद किया. जिसकी मूल स्थापना ही थी विचार और

राजनीति को कविता के बाहर रखा जाना चाहिए. इसके द्वारा नया सौन्दर्यशास्त्र रचा जा रहा था जिसमें शोषण, गरीबी और भूख को मनोरंजन की सामग्री बना दिया गया था. गोरख ने इमर्जेंसी के विशेष संदर्भ में 'कविता की वापसी' आंदोलन की मीमांसा की – "इमर्जेंसी को जनवादी साहित्य के प्रामाणिक उभार का प्रस्थान–बिंदु मानने के पीछे क्या राज है ? असल में इमर्जेंसी में प्रतिरोध का साहित्य लिखा गया जरूर. लेकिन इस साहित्य का एक हिस्सा ऐसे लेखकों द्वारा लिखा गया, जो मध्यवर्गीय संस्कार और पूर्वाग्रह भी रखते थे. ऐसे लेखक तब सक्रिय हुए जब लम्बे समय से नक्सलवादियों का दमन करने वाली प्रतिक्रियावादी सरकार ने दमनचक्र को चौतरफा चला दिया और उसकी चपेट में सारे मध्यवर्ग के साथ पूंजीपति–वर्ग का एक हिस्सा भी आ गया.

चूंकि पहले की रचनाओं में कला पर जोर कम था और चूंकि इमर्जेंसी में बात कहने के लिए लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग जरूरी हो गया था, इसलिए ऐसे लेखकों ने कलात्मक बुनावट पर ज्यादा जोर दिया, जिसे सरकार के भोपाली घराने के लेखकों ने **कविता की वापसी** कहकर उछाला. मध्यवर्गीय अनुभव और विचार के ढांचे में ढली ये रचनाएं जनवादी साहित्य की मुख्यधारा के विपरीत एक रूपवादी रुझान व्यक्त करती हैं और अन्ततः यथास्थिति को मजबूत करती हैं."[45]

'कविता की वापसी' के नारे ने यह प्रस्थापना ही रखी थी कि राजनीति और विचारों के भार से कविता को मुक्त किया जाना चाहिए. विचारविहीन कविता का अभिषेक करने के प्रयत्नों पर गोरख ने तीखी टिप्पणी की – "आज की हिन्दी कविता में शोषक वर्ग की दृष्टि भोपाल घराने के कवियों में सघन रूप से देखी जा सकती है. वे यथार्थ के मौजूदा ढांचे और उसके नियामक तत्वों की ओर निगाह डालने की बजाय यथार्थ से परे ले जाने; ईश्वर, धर्म और मृत्यु के बारे में बात करने पर आमादा दिखायी पड़ते हैं. वे बताते हैं कि इस जीवन से परे की वे रहस्यमय चीजें ही सबसे महत्वपूर्ण हैं और इन चीजों को आम अनुभव और विज्ञान से जाना नहीं जा सकता, इसलिए वे कुछ भारी– भरकम (यानी महत्वपूर्ण) बिम्बों, रूपकों का इस्तेमाल करते हैं, बहुत ऊंचाई से बोलते हुए लगते हैं. यथार्थ को रहस्यमय बनाने

के लिए वे जटिल रचना–विधान की हिमायत करते हैं.... ठोस की जगह अमूर्त, सरल की जगह जटिल, रहस्यभेदन की जगह रहस्य निर्माण इनकी विशेषता है.''[46]

गोरख ने 'चिट्ठी' शीर्षक कविता में इस प्रवृत्ति पर तीखा व्यंग्य किया. यह कविता 'कविता की वापसी' के नारे के सैद्धांतिक आधारों और सत्ता प्रतिष्ठान से इसकी संबद्धता की गंभीर आलोचना प्रस्तुत करती है –

सुनता हूं इधर कविता आ गई है
केन्द्र में जैसे इन्दिरा गांधी
सड़कों से वापस आ गई है
हाकिमों के हरे–भरे लानों में
खुला चारागाह है
बारीक इशारों के कंटीले तारों से
घिरा

.....

कुछ लोग बिहार में मारे गए हैं
कुछ लोग बंगाल में
दिल्ली में गिरफ्तार हुए हैं कुछ लोग
कुछ लोग मद्रास में
पुलिस फौज चुस्त है
व्यवस्था दुरुस्त है
इसलिए राजनीति के बारे में मत सोचना
वरना कविता का कलेवर
विचार के भार से
चरमरा जाएगा
जानते ही हो कितनी नाजुक होती है

.....

जिगर का दर्द ही उसकी

प्रामाणिक अनुभूति है
अनुभूति ही यथार्थ

.....

सरकार चीनी के साथ
कविता भी कंट्रोल रेट पर
मुहैया करेगी
कविता का हर पद
शहद के छत्ते सा होगा
रस से लबालब भरा
मीठा और
घास सा चिकना और मुलायम
सब ठीक हो जाएगा
ग़रीबी करुण रस का सुख देगी
हत्या परमानंद रस का
रस ही रस होगा.....[47]

गोरख कला और जनता द्वारा उसके आस्वाद की समस्या पर विचार करते हुए कविता और जनता के आवयविक रूप से एकात्म हो जाने को अभीष्ठ मानते हैं. 'कविता' शीर्षक कविता में उन्होंने कविता के लिए कसौटियां तय की हैं –

कविता, युग की नब्ज़ धरो
अफ़रीका लातिन अमेरिका
उत्पीड़ित हर अंग एशिया
आदमखोरों की निगाह में
ख़ंजर सी उतरो !

.....

श्रम की भट्ठी में गल–गलकर
जग के मुक्ति–चित्र में ढलकर

बन स्वच्छंद सर्वहारा के

ध्वज के संग लहरो !

.....

उलटे अर्थ विधान तोड़ दो

शब्दों से बारूद जोड़ दो

अक्षर–अक्षर पंक्ति–पंक्ति को

छापामार करो ![48]

कविता की यह दिशा साहित्य और राजनीति के रिश्ते के बारे में प्रेमचंद के प्रसिद्ध वक्तव्य का क्रांतिकारी विकास है. यहां जब कविता के एजेंडे में क्रांति को स्थापित करने की बात कही जा रही है तब मुक्तिबोध की कविता 'भूल गलती' अधिक स्पष्ट अर्थग्रहण करती हुयी दिखती है.

हमारी हार का बदला चुकाने आएगा

हमारी चेतना का रक्तप्लावित स्वर

हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर

प्रकट होकर

विकट हो जाएगा.[49]

'कविता' न सिर्फ कविता के लिए सच्चे अंतर्राष्ट्रीयतावाद का लक्ष्य निर्धारित करती है, बल्कि कवि के विचारधारात्मक रूपान्तरण के प्रश्न से गहरे जुड़ी हुई है. बिना विचारधारात्मक रूपान्तरण के कविता के लिए रखी गई इस कसौटी पर कोई भी रचनाकार खरा नहीं उतर सकता. यह कोई नक्सलवादी कवियों की सृजनात्मकता का संकट नहीं है और न ही उनकी कविता के जनता से कटते जाने की बेचैनी. यह कुलीन वर्ग की यथास्थिति समर्थक कलावादी कविता के प्रतिमानों के विरुद्ध 'कविता के नए प्रतिमानों' का सृजन है.

शब्दों से बारूद के रिश्ते की गूंज 1981 में लिखी गई नागार्जुन की कविता 'भोजपुर' में सुनाई पड़ती है

यही धुंआ मैं ढूंढ़ रहा था

यही आग मैं खोज रहा था

यही गंध थी मुझे चाहिए

बारूदी छर्रे की खुशबू!लहरा उठी है

कदम–कदम पर, इस माटी पर! महामुक्ति की अग्निगंध

ठहरो–ठहरो इन नथनों में इसको भर लूं

अपना जन्म सकारथ कर लूं[50]

हिंदी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी कविता के साथ बारूद का यह रिश्ता नक्सलबाड़ी ने कायम किया. 'अक्षर–अक्षर पंक्ति–पंक्ति को छापामार करो!' सिर्फ गोरख ही कविता के प्रतिमान के बतौर नहीं स्थापित कर रहे थे, बंगाल के क्रांतिकारी कवि नवारुण भट्टाचार्य भी कविता के लिए इसी कसौटी को रखते हैं और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जनसंघर्षों की आवाज बने कवियों से अपनी कविता का रिश्ता जोड़ते हैं –

कविता नहीं मानती किसी बाधा को

कविता सशस्त्र है कविता स्वाधीन है कविता निर्भीक है

गौर से देखो : मायकोव्स्की, हिकमत, नेरुदा, अरागां, एलुआर

हमने तुम्हारी कविता को हारने नहीं दिया

समूचा देश मिलकर एक नया महाकाव्य लिखने की कोशिश में है

छापामार छंदों में रचे जा रहे हैं सारे अलंकार[51]

जिस तरह नक्सलबाड़ी आंदोलन भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन का क्रांतिकारी विकास था उसी तरह उसके प्रभाव में आया साहित्यिक आंदोलन भी एक विकासमान परंपरा की नई परिस्थितियों में अभिव्यक्ति था. इस परंपरा को भक्ति आंदोलन के संत साहित्य से लेकर प्रगतिवाद तक देखा जा सकता है. गोरख ने मार्क्सवादी विश्वदृष्टि के आधार पर खड़े होकर परंपरा में अपनी काव्यदृष्टि अर्जित की. कवि दृष्टि के निर्माण में वस्तुगत परिस्थितियों के साथ कवि की विचारधारा निर्णायक भूमिका अदा करती है. अगले अध्याय में विचारधारा की अवधारणा, विचारधारा और संस्कृति के संबंधों और गोरख की कवि दृष्टि और विचारधारा के संबंधों का विश्लेषण किया जाएगा.

संदर्भ और टिप्पणियां

1. अज्ञेय, तार सप्तक (की भूमिका), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999

2. ग. मा. मुक्तिबोध, तार सप्तक (सं. अज्ञेय), पृ. 21

3. वही, पृ. 22

4. वही पृ. 22

5. वही, पृ. 22–23

6. वही, पृ. 23

7. वही, पृ. 44

8. शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक (सं. अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ, 1999, पृ. 85

9. वही, पृ. 86

10. वही, पृ. 88

11. रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक (सं. अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ, 1999, पृ. 138

12 वही, पृ 138–139

13 गोरख पाण्डेय, *समकालीन कविता में रूप की समस्याएं,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ 75

14 गोरख पाण्डेय, *नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और साहित्य,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 58

15 वही, पृ. 50

16 वही, पृ. 52

17 वही, पृ. 52

18 गोरख पाण्डेय, *कविता को जन संघर्षों के सवालों से टकराना होगा,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 122

19 वही, पृ. 123

20 *नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और साहित्य,* पृ. 58–59

21 गोरख पाण्डेय, *सरलता के पक्ष में,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ 83–84

22 गोरख पाण्डेय, *समकालीन कविता में रूप की समस्याएं,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ 78

23 वही, पृ 77– 78

24 वही, पृ. 77

25 गोरख पाण्डेय, *बड़े संघर्ष ही बडी रचना देते हैं,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ 120–121

26 वही, पृ 120

27 वही, पृ 120–121

28 गोरख पाण्डेय, *कविता को जन संघर्षों के सवालों से टकराना होगा,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 123

29 गोपाल प्रधान, *उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील,* रूपक, संपादक मधुप कुमार, पृ. 71

30 राजेश जोशी, *कविता यही कहती है,* पहल पुस्तिका 37, पृ 42–43

31 गोरख पाण्डेय, *उसको फांसी दे दो,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 111

32 राजेश जोशी, *कविता यही कहती है,* पहल पुस्तिका 37, पृ. 46

33 अशोक वाजपेयी, कुछ पूर्वग्रह, पृ. 51

34 नंद किशोर नवल, वर्तमान साहित्य, कविता विशेषांक, अप्रैल–मई 1992, पृ. 325

35 वहीं पृ. 331

36 सियाराम शर्मा, *नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और हिंदी कविता,* पल प्रतिपल, अंक 42, अक्तू.–दिस. 1997, सं. देश निर्मोही , पृ. 142

37 राजेश जोशी, *कविता यही कहती है,* पहल पुस्तिका 37, पृ. 48

38 कुमार विकल, *जंगल कैद,* एक छोटी सी लड़ाई, पृ. 89

39 आलोक धन्वा, 'गोली दागो पोस्टर', दुनिया रोज बनती है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

40 गोरख पाण्डेय, *कविता को जन संघर्षों के सवालों से टकराना होगा,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 122

41 गोरख पाण्डेय, *कला कला के लिए,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 100

42 सियाराम शर्मा, पहल : कविता का तीसरा संसार, नवंबर–दिसंबर–जनवरी/ 1995–96, जबलपुर, पृ. 37

43 गजानन माधव मुक्तिबोध, *अंधेरे में,* चांद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999, 12वां संस्करण, पृ. 257

44 गोरख पाण्डेय, फूल खिल आए हैं, स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 19

45 गोरख पाण्डेय, *नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और साहित्य,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990 पृ. 58

46 गोरख पाण्डेय, *समकालीन कविता में रूप की समस्याएं,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ. 76– 77

47 गोरख पाण्डेय, *चिट्ठी,* जागते रहो सोने वालो, राधा कृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ 55–57

48 गोरख पाण्डेय, *कविता,* समय का पहिया, संवाद प्रकाशन मेरठ, 2003, पृ. 108

49 गजानन माधव मुक्तिबोध, भूल गलती. चांद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999, 12वां संस्करण, पृ.33

50 नागार्जुन, *भोजपुर,* प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1996 पृ. 112

51 नवारुण भट्टाचार्य, *'यह मृत्यु उपत्यका नहीं है मेरा देश'*, विकल्प 4, 1997 पृ. 130

अध्याय 2
विचारधारा और संस्कृति

विचारधारा अवधारणाओं और दृष्टियों की एक ऐसी व्यवस्था है, जो दुनिया को समझने और समझाने के काम में लाई जाती है. साथ ही साथ यह व्यवस्था उन सामाजिक स्वार्थों पर पर्दा भी डालती है जिनकी वह अभिव्यक्ति है. विचारधारा अपनी पूर्णता और आपेक्षिक अंतर्संबद्धता के चलते एक ऐसी बंद व्यवस्था बनने की ओर अग्रसर होती है जो कि विरोधाभासी या असंबद्ध अनुभवों के बावजूद खुद को बनाए रखती है.

मार्क्सवादियों के भीतर भी विचारधारा शब्द की अनेकों छायाएं मिलती है. टेरी इगल्टन ने 'Ideology : An Introduction'[1] नामक अपने प्रबंध में विचारधारा शब्द की छायाओं को इन रूपों में गिनाया है. –

1. सामाजिक जीवन में अर्थों, संकेतों और मूल्यों के उत्पादन की प्रक्रिया.

2. किसी खास सामाजिक समुदाय अथवा वर्ग से संबद्ध विचारपुंज.

3. ऐसे विचार जो कि किसी प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति को वैधता प्रदान करने में मदद करते हैं.

4. ऐसे झूठे विचार जो कि किसी प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति को वैधता प्रदान करने में मदद करते हैं.

5. आदान – प्रदान के तरीकों को प्रणालीबद्ध ढंग से विकृत करने का उपक्रम.

6. कर्ता की अपनी अवस्थिति या किसी विषय पर उसकी सोच को प्रकट करने का माध्यम.

7. सामाजिक स्वार्थ से संचालित विचारों का प्रारूप.

8. पहचान को रेखांकित करने वाले विचार.

9. विमर्श और सत्ता का भ्रम पैदा करने वाली सामाजिक रूप से जरूरी विचार प्रणाली.

10. सचेतन सामाजिक कर्ताओं द्वारा विश्व को समझने का माध्यम.

11. क्रियाशीलता को प्रेरित करने वाले विश्वासों की एक प्रणाली.

12. भाषायी और पार्थिव यथार्थ के बीच भ्रम की एक स्थिति.

13. प्रतीकों की एक बंद व्यवस्था.

14. एक अपरिहार्य माध्यम जिसमें हर व्यक्ति एक खास सामाजिक संरचना के साथ अपने संबंधों को जीता है.

15. एक प्रक्रिया जिसके माध्यम से सामाजिक जीवन प्राकृतिक यथार्थ में रूपान्तरित किया जाता है.

मार्क्सवादी सारी विचारधाराओं को लगातार चलने वाली आलोचना का पात्र मानते हैं. इस आलोचनात्मक पद्धति से वे किसी विचारधारा के भीतरी अंतर्विरोधों को उजागर करते हैं तथा उस विचारधारा के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले सामाजिक स्वार्थों पर से पर्दा हटाते हैं.

खुद मार्क्सवाद को बहुधा एक विचारधारा के रूप में परिभाषित किया जाता है, खासतौर पर इस शब्द की नकारात्मक छायाओं के संदर्भ में. मार्क्सवाद को भी विचारों की एक ऐसी बंद व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित करने के प्रयास होते हैं जो कि विरोध ाभासी अनुभवों के बावजूद खुद को बनाए रखती है. कोई भी सामाजिक दृष्टि अपने भीतर विचारधारा के तत्व लिए रहती है क्योंकि एक पूर्णतः वस्तुगत और इतिहास से परे विश्वदृष्टि अप्राप्य है. अपनी व्यापकता और शक्ति में मार्क्सवादी भी स्वयं को वैधता प्रदान करने वाले विचारों की एक बंद व्यवस्था में रूपान्तरित होने से बच नहीं पाता, ऐसा उसके आलोचकों का मानना है. हालांकि मार्क्सवाद का इस रूप में विकास उसके मूल चरित्र के विरुद्ध है, जो कि निरंतर आलोचना और आत्मालोचना के जरिए ही आगे बढ़ता है. सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के विकास में परिलक्षित और निरंतर उत्पादित नए–नए तत्वों को आत्मसात करते हुए बढ़ना मार्क्सवाद की बुनियादी प्रवृत्ति है. यह विडंबना से कुछ कम नहीं कि सभी विचारधाराओं के सार्वभौमिक दावों के भीतर निहित वर्गीय स्वार्थों को आलोचना के अस्त्र से बेनकाब करने वाले ऐतिहासिक और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को उन्हीं नकारात्मक अर्थों में एक विचारधारा मान लिया जाए जिनका खुलासा उसने इतनी साहसिकता और स्पष्टता के साथ किया है. मार्क्सवाद सर्वहारा की विचारधारा है और ठीक इसीलिए वह विचारधारा के उपरोक्त नकारात्मक

अर्थों और अनुषंगों से मुक्त है, क्योंकि मार्क्सवाद खुलकर अपने वर्ग अभिप्राय की घोषणा करता है. इस मामले में वह अपने से पहले की सारी विचारधाराओं से बिल्कुल अलग है. मार्क्सवाद का दावा अपने वर्ग–अन्तर्य को छिपाने से नहीं बल्कि उसे उजागर करने से आता है. इसलिए भी क्योंकि वह सर्वहारा को अंततः समस्त वर्ग विभेदों को खत्म कर देने वाले वर्ग के बतौर तर्कशः स्थापित करता है. "The proletariat, the lowest stratum of our present society, cannot stir, cannot raise itself up, without the whole superincumbent strata of official society being sprung into the air." [2] वर्ग विभाजित समाजों में विचारधाराएं निश्चय ही छद्म चेतना और बंद व्यवस्था के लक्षणों से युक्त होती हैं किंतु एक ऐसी विचारधारा जो वर्ग विभेदों को खत्म करने की ओर निरंतर आलोचना और आत्म–आलोचना के जरिए सक्रिय हो वह अपनी प्रक्रिया में ही छद्म चेतना और बंद व्यवस्था की लाक्षणिकताओं का अतिक्रमण करती चलती है. मार्क्सवाद ने अपने लिए कभी भी सार्वकालिकता और संपूर्णता के दावे नहीं किए. उसने एक असमाप्त प्रकल्प के बतौर ही खुद को परिभाषित किया है जो उसे सदैव ही ग्रहणशील और खुला बनाए रखता है. दरअसल मार्क्सवादी लोग अपने संदर्भ में विचारधारा शब्द का बर्ताव इसी अर्थ में करते हैं. लेकिन जहां तक विचारधारा मात्र की बात है वे उसकी शिनाख्त के लिए मार्क्स के इस सूत्र को ही ध्यान में रखते हैं कि 'मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि इसके विपरीत मनुष्यों का सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है.'[3] सामाजिक अस्तित्व के विकास के एक खास चरण में समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियां मौजूदा उत्पादन संबंधों के विरोध में आ खड़ी होती हैं. मौजूदा उत्पादन संबंध उत्पादक शक्तियों के पांवों में बेड़ियों की तरह पड़ जाते हैं जिन्हें तोड़कर उत्पादक शक्तियां सामाजिक क्रांति संपन्न करती हैं और एक नूतन ऐतिहासिक युग में प्रवेश करती हैं. कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक, सौन्दर्यात्मक और दार्शनिक प्रणालियां वास्तव में वे विचारधारात्मक रूप हैं जिनके माध्यम से मनुष्य अपने सामाजिक अस्तित्व के अंतर्विरोधों के प्रति ऐसे दौर में सचेत होते हैं और उनसे निकलने की कोशिश करते हैं. संस्कृति इन सबका समुच्चय है. लिहाजा विचारधारा और संस्कृति

का संबंध बहुत गहरा और जटिल है. लेकिन द्वंद्वात्मक–भौतिकवाद की निगाह से स्वयंसिद्ध भी.

ऐतिहासिक और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को सचेत रूप से स्वीकार करने के चलते गोरख पाण्डेय विचारधारा और संस्कृति के अंतर्संबंध की उपरोक्त प्रस्तावना को स्वीकार करके चलते हैं. गोरख के शब्दों में ''संस्कृति का क्षेत्र विचारधारा से सीधा सरोकार रखता है. चाहे दार्शनिक, धार्मिक वैज्ञानिक या राजनैतिक विचारों का सृजन हो, चाहे कला का सृजन, वह सारा का सारा विचारधारात्मक सृजन होता है. हो सकता है कि कोई रचनाकार अपनी विचारधारा के बारे में पूरी तरह से सचेत न हो या सोचता हो कि वह रचना कर्म व्यक्तिगत बोध और निर्णय के आधार पर कर रहा है. लेकिन विचारध ाराओं के टकराव और प्रचार माध्यमों ने जब अंतर्राष्ट्रीय रूप ले लिया हो, उस समय यह सोचना कि कुछेक व्यक्ति नहीं बल्कि सारा का सारा लेखकों या संस्कृतिकर्मियों का संगठन ही विचारधारा के प्रभाव से अछूता है या सांगठनिक भेद के पीछे विचार–भेद काम नहीं कर रहा है, तथ्यपरक नहीं हो सकता.'' [4]

दक्षिणपंथी विचारधारा संस्कृति को सार्वभौम 'राष्ट्रीय जीवन पद्धति' के रूप में स्वीकार करती है. लेकिन वर्ग विभाजित समाज में सार्वभौम 'राष्ट्रीय जीवन पद्धति' वस्तुगत रूप से संभव नहीं है. इस तरह की संस्कृति के निर्माण का दूसरा रास्ता है, बलपूर्वक समाज पर थोप देना. फासिस्ट संस्कृति की यही अवधारणा है. एजाज़ अहमद संस्कृति को सार्वभौम 'राष्ट्रीय जीवन पद्धति' मानने की जगह कहते हैं, संस्कृति के अंतर्गत ''वे सारे साधन और रवायतें आती हैं जिनसे मूल्य और मानी पैदा किए जाते है.''जो समाज शक्तिशाली और कमजोर वर्गों में विभाजित है, उसमें निश्चित ही कुछ सांस्कृतिक रवायतें प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए होंगी और उनके खिलाफ कुछ 'विद्रोही सांस्कृतिक रवायतें' भी होंगी. इसीलिए संस्कृति सदैव केवल स्वतंत्रता, आत्मसाक्षात्कार, आत्माभिव्यक्ति और सामूहिक साझेदारी का क्षेत्र नहीं वरन अक्सरहां यह जाल में फांसने का और परतंत्रता का भी क्षेत्र है. [5] संस्कृति का परतंत्रता के क्षेत्र में भी परिवर्तन ऐतिहासिक विकासक्रम के एक खास बिन्दु पर हुआ. श्रम और वर्ग के विभाजन इसके मुख्य कारक है. गोरख ने उत्पत्ति के समय संस्कृति और स्वतंत्रता के

एक दूसरे का पर्याय होने से लेकर वर्तमान समय में उनके अनुप्रयोगों के बारे में विचार करते हुए लिखा कि "प्रकृति का संस्कार करने और संस्कृति का निर्माण करने का प्रथम स्रोत सामूहिक श्रम है. ..... मनुष्य ने सामूहिक श्रम के जरिए स्वतंत्रता की फसल की तरह और उसके साथ संस्कृति को उपजाया है. लेकिन मानव समाज श्रम और वर्ग के लंबे विभाजन से गुजरा है. शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम एक दूसरे से अलग हुए हैं, उत्पादक वर्ग और उत्पादन का नियंत्रण करने वाला वर्ग अस्तित्व में आया है. .... चूंकि संस्कृति और स्वतंत्रता परस्पर पर्याय हैं और विभाजन के विकसित ढांचे में स्वतंत्रता उत्पादन के मालिकों के हाथ में आ जाती है, स्वतंत्रता के जनक श्रमजीवी गुलाम बना लिए जाते हैं, इसलिए संस्कृति भी मालिक वर्ग की चीज हो जाती है."[6] स्पष्ट है कि संस्कृति को शाश्वत स्वतंत्रता और आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र इसीलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि यह किसी एक संस्कृति का नहीं बल्कि दो विपरीत हितों की संस्कृतियों के टकराव का क्षेत्र है. इसे निरपेक्ष और शाश्वत स्वतंत्रता का क्षेत्र मान लेना इस टकराव को नज़रअंदाज़ कर देना है और प्रभुत्वशाली वर्गों की संस्कृति को सार्वभौम मान लेना है.

संस्कृति का उत्पादन यदि उत्पादन के साधनों पर अधिकार, सामाजिक स्थिति आदि से निर्धारित होता है तो भौतिक उत्पादन के साथ इसके संबंधों के बारे में विचार करना आवश्यक हो जाता है. भौतिक और आध्यात्मिक (बौद्धिक) उत्पादन के संबंधों के बारे में गोरख ने लिखा कि "भौतिक उत्पादन हमेश अनिवार्यता के दायरे में होता है और उसमें स्वतंत्रता सामूहिक या सचेतन नियंत्रण तक सीमित होती है. जबकि आध्यात्मिक उत्पादन अनिवार्यता और तात्कालिकता के दायरे से बाहर जाने पर संभव होता है और इसलिए अपने आरंभ से लेकर परिणाम तक, स्वतंत्रता का क्षेत्र विकसित करने की दिशा में अग्रसर होता है. जाहिर है यह आध्यात्मिक उत्पादन का – या स्वतंत्रता का – क्षेत्र, भौतिक उत्पादन की स्थितियों, तकनीकी ज्ञान और मानव संबंधों की स्थितियों पर टिका होता है. लेकिन इसकी मूल संरचना स्वतंत्रता की क्रिया से निर्मित हुयी है और यह प्रक्रिया प्रकृति या सामाजिक जीवन में अनिवार्यता का जो भी दायरा है, उसे तोड़ने और मनुष्य को आमतौर पर स्वतंत्र बनाने की दिशा में जाती है. भौतिक उत्पादन जहां

स्वतंत्रता की बुनियाद है, वहां आध्यात्मिक उत्पादन वह पूरा पेड़ है, जिसके तने से लेकर शाखा, पत्ती और फूल तक मानव–कर्म की स्वायत्तता और स्वतंत्रता के अंग के रूप में विकसित होते हैं.[7]

विचारधारा महज़ वर्गों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि हर व्यक्ति अलग–अलग स्तरों पर सचेतन या बिना सचेत हुए इसका उत्पादन करता है. ग्राम्शी ने इन्हीं अर्थों में हर व्यक्ति को दार्शनिक कहा.[8] ठीक इसी तरह संस्कृति भी केवल विचारधारा की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि हर व्यक्ति अनेक स्तरों पर इसका उत्पादन करता है. टेरी इगल्टन संस्कृति और विचारधारा के संबंधों की विशिष्टता और बहुस्तरीयता की व्याख्या के लिए एक दृष्टांत का सहारा लेते हैं. उनका कहना है कि संस्कृति विचारध ारा की महज़ अभिव्यक्ति नहीं है ठीक उसी तरह जैसे किसी नाटक का मंचन पटकथा की महज़ अभिव्यक्ति, प्रतिबिंबन या पुनरुत्पादन भर नहीं होता, और यह मंचन जितनी भी बार और जितने भी कलाकारों द्वारा हो, हर बार विशिष्ट होता है. नाटक के उत्पादन (मंचन) और उसकी पटकथा का संबंध मूलतः श्रम–संबंध है. पटकथा कच्चे माल की तरह है जिसमें श्रम का निवेश करके नाटक का उत्पादन किया जाता है. ठीक वैसे ही जैसे धन में श्रम का निवेश करके उसे पूंजी में रूपान्तरित किया जाता है. जिस तरह नाटक का उत्पादन (मंचन) पटकथा से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं होता उसी तरह सांस्कृतिक या साहित्यिक रूप विचारधारा से पूर्णतः पृथक सत्ता नहीं रखते.[9] विचारधारा और संस्कृति दोनों ही अपनी उत्पादन की प्रक्रिया और चाहे–अनचाहे चुनावों के बारे में आमतौर पर खामोश रहते हैं. संस्कृति विचारधारात्मक सत्यों का पुनरुत्पादन है लेकिन स्वयं को इस रूप में प्रस्तुत करती है कि वह हमारे जीवन के सत्य से कहीं अधि ाक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, बल्कि हमारे यथार्थ जीवन से अधिक व्यवस्थित और समग्र चित्र पेश करने में सक्षम है. लेकिन इसके साथ ही यह संभावना भी होती है कि हम साहित्य और विचारधारा द्वारा पेश की जा रही कृत्रिम स्वाभाविकता को नकारते हुए आलोचनात्मक औजारों की मदद से साहित्य ही नहीं विचारधारा की भी उत्पादन प्रक्रिया को उद्घाटित कर सकते हैं. [10]

इस तरह टेरी इगल्टन आलोचक के लिए एक एजेंडा सामने रखते हैं. लेकिन

जो सांस्कृतिक कार्यकर्ता स्वयं संस्कृति का उत्पादन कर रहे हों और विचारधारा या आम साहित्य द्वारा ओढ़े गए स्वाभाविकता के चोंगे को उतारकर संस्कृति की उत्पादन प्रक्रिया को सामने लाना चाहते हों उनके लिए कौन से उपादान मददगार होंगे और क्यों? इस प्रश्न पर ब्रेष्ट ने 'एपिक थिएटर' की अवधारणा रखते हुए विचार किया. इगल्टन ने ब्रेष्ट की 'एपिक थिएटर' की अवधारणा पर लिखा कि जहां यथार्थवादी थिएटर स्वयं को विचारधारा के उत्पाद के रूप में प्रस्तुत न करके यथार्थ के स्वाभाविक प्रस्तुतीकरण के रूप में सामने रखता है वहीं 'एपिक थिएटर' स्वयं को विचारधारा के उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करता है, जो कि वह है. इस तरह यथार्थ के स्वाभाविक प्रस्तुतीकरण के दावे पर सवाल करते हुए 'एपिक थिएटर' समाजिक जीवन के रिवाजों को भी विचारधारा के उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करता है. 'एपिक थिएटर' का उद्देश्य यह दिखलाना है कि पूरी दुनिया ही रंगमंच है. ब्रेष्ट ने अपने लेख Two Essays on Unprofessional Acting में लिखा कि हम यह अक्सर भूल जाते हैं कि मनुष्यों की सामाजिक शिक्षा काफी हद तक रंगमंचीय तरीके से होती है. जिसमें बच्चों की तमाम जिज्ञासाओं के जवाब में बताया जाता है कि 'ऐसा ही करते हैं', उन्हें वयस्कों की भंगिमाओं की नकल करना सिखाया जाता है. धीरे–धीरे यह नकल उनके लिए नकल नहीं रह जाती बल्कि उनके अपने सामाजिक व्यवहार और स्वभाव के हिस्से के रूप में ही उन्हें समझ में आती है. इस तरह मनुष्य के बाहर की संस्थाबद्ध सामाजिक रीतियां उसकी अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्तियां लगने लगती हैं जिन पर वह यकीन करता है. यहां ब्रेष्ट इस बात पर जोर देते हैं कि हमारा सामाजिक व्यवहार और स्वभाव व्यक्तिगत की अपेक्षा विचारधारात्मक उत्पाद है. ब्रेष्ट यह मानते हैं कि रंगमंच की भूमिका इस छद्म स्वाभाविकता पर सवाल खड़े करने और मानवीय स्वभाव और व्यवहार को विचारधारात्मक उत्पाद के रूप में दिखाने की होनी चाहिए. एक पेशेवर और अच्छा कलाकर इस काम को नहीं कर सकता क्योंकि वह अपने अभिनय के द्वारा इसी स्वाभाविकता को स्थापित करता है जहां दर्शक रंगमंच को अपने जीवन के स्वाभाविक विस्तार के रूप में देखने लगता है. एक ''गैर पेशेवर'' और ''खराब अभिनेता'' अपने ''खराब अभिनय'' के माध्यम से यह दिखाता है कि मानवीय स्वभाव और व्यवहार जिसे

प्राकृतिक समझा जाता है वह भी दरअसल नकल है, अभिनय है. मार्क्सवादी सिद्धांतकार या राजनीतिक कार्यकर्ता हमेशा या तो लोगों को "खराब अभिनेता" बनाने की कोशिश करता है या ऐसे जिज्ञासु बच्चे जो तमाम मूलभूत सवालों के टाल देने वाले जवाबों से संतुष्ट न हों. [11] ब्रेष्ट ने रंगमंच के बारे में अपने सैद्धांतिक निष्कर्षों में इस बात पर जोर दिया कि रंगमंच को रोजमर्रा के जीवन की वास्तविकताओं और उनमें निहित अन्याय को अवश्य दिखाना चाहिए लेकिन लोगों की चेतना को बदलने के लिए न कि उनकी धारणाओं को और पुष्ट करने के लिए. उन्होंने कहा कि परंपरागत रंगमंच का दर्शक कहेगा कि "हां मैने उसी तरह महसूस किया है..... यह एकदम स्वाभाविक है – यह कभी बदल नहीं सकता – इस आदमी के दुःखों से मैं हैरत में पड़ गया क्योंकि इनसे बचा नहीं जा सकता – यह महान कला है; यह सब संसार की सबसे सामान्य घटना लगती है – मैं रोता हूं जब वे रोते हैं, मैं हंसता हूं जब वे हंसते हैं." जबकि ब्रेष्ट के 'एपिक थिएटर' के दर्शक की प्रतिक्रिया होगी कि "मैने ऐसा कभी नहीं सोचा था – यह कोई तरीका नहीं है – यह असामान्य है, मुश्किल से विश्वास करने लायक – इसे बंद होना चाहिए – इस आदमी के दुःखों से मैं हैरत में पड़ गया क्योंकि वे अनावश्यक हैं – इसमें कुछ भी स्वाभाविक नहीं है. उनके रोने पर मैं हंसा और हंसने पर रोया." ब्रेष्ट का मानना था कि राजनीतिक रंगमंच को दर्शक में यही अजनबियत का प्रभाव पैदा करना चाहिए. रंगमंच को स्थितियों को अभिव्यक्त करने की जगह उनके प्रति अजनबियत का भाव पैदा करना चाहिए. [12]

गोरख ने अपनी कविताओं में इसी स्वाभाविकता और नैसर्गिकता पर सवाल खड़ा किया. उन्होंने 'सोचो तो' कविता में तमाम स्वाभाविक लगने वाली चीजें जो वास्तव में एकदम अस्वाभाविक और उल्टी हैं को उलट देने का एजेंडा सामने रखा. दरअसल यह कोई उल्टी चेतना मात्र नहीं है बल्कि उल्टे भौतिक जगत की अभिव्यक्ति है इसलिए इसमें परिवर्तन केवल चेतना के स्तर पर विमर्श चलाकर नहीं बल्कि उल्टे भौतिक जगत में बदलाव के माध्यम से संभव हो सकता है. [13] उल्टे और अस्वाभाविक भौतिक जगत का एकदम स्वाभाविक रूप में प्रस्तुतीकरण ही वह जरिया है जिसके माध्यम से उसके उल्टेपन को छिपाया जाता है और उसे सार्वभौम आम समझ के रूप में

प्रस्तुत किया जाता है. 'सोचो तो' कविता में ब्रेष्ट के 'एपिक थिएटर' की इसी अजनबियत पैदा करने की पद्धति का इस्तेमाल करते हुए गोरख ने लिखा –

वैसे, सोचो तो अंधेरे में चमकते
ये हज़ारों हाथ हैं
इतिहास के पहियों को
रोटी–रचना और मुक्ति के
पड़ावों की ओर बढ़ाते हुए
इतिहास की किताबों में
इनका जिक्र भी न होना
सोचो तो कितना अजीब है [14]

इतिहास के बारे में सर्वस्वीकार्य धारणा यह रही है कि यह राजाओं और राजवंशों का ही होता है. 'रोटी–रचना और मुक्ति' के लिए संघर्ष कर रहे जनसमुदाय की आकांक्षाओं और अभिव्यक्तियों के प्रति इतिहास के मौन की सहजता को गोरख अपनी कविता से भंग करने की कोशिश करते हैं, इस निश्चय के साथ कि इतिहास की वास्तविक प्रचालक शक्तियों का अपना भी इतिहास हो सकता है. गोरख सर्वहारा की इतिहास ही नहीं वर्तमान से भी बेदखली, श्रम से उनके अलगाव, पर सवाल खड़ा करते हैं. दरअसल यह जिज्ञासु बच्चे की जिज्ञासा को फिर से जगा देने जैसा ही है जो टाल दिए जाने वाले और गलत जवाबों से संतुष्ट होने को तैयार नहीं है.

सोचो तो मामूली तौर पर
जो अनाज उगाते हैं
उन्हें जो जून अन्न जरूर मिलना चाहिए
उनके पास कपड़े जरूर होने चाहिए
जो उन्हें बुनते हैं
और उन्हें प्यार मिलना ही चाहिए
जो प्यार करते हैं [15]

गोरख सामान्यबोध के प्रतिगामी तत्वों को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करते हैं और

लोगों को उससे परे सोचने के लिए उकसाते हैं. गोरख वर्चस्वशाली विचारधाराओं की आपसी भिन्नताओं की पहचान रखते हैं. हजार भेस धर कर आने वाली संस्कृतियां अंततः दमनकारी हैं, लेकिन दमन के स्वरूप की किंचित भिन्नता भी उनकी आंखों से ओझल नहीं होने पाती. सामंती और पूंजीवादी संस्कृतियों का भारतीय परिस्थितियों में संघर्ष की अपेक्षा आपस में समझौता अधिक है, उनके दमनकारी स्वरूप की अलग–अलग पहचान उनके प्रतिवाद की तैयारी में सहायक हो सकती है –

फ़सल जमींदारों के बिना भी
उग सकती है
जैसे परमाणु अस्त्रों के बिना भी
क़ायम हो सकती है शांति
जो कल–कारखाने अपने हाथों चलाते हैं
वे उनके मालिक भी हो सकते हैं
पानी जोंकों के बिना भी
बहता रह सकता है
और आग झोंपड़े जलाने के लिए ही नहीं
बल्कि ठंड से कांपते लोगों को
बचाने के काम आ सकती है. [16]

गोरख इस बात पर जोर देते हैं कि स्वाभाविकता और सामान्य बोध(common sense) को केवल विमर्श के स्तर पर चुनौती नहीं दी जा सकती, इन्हें चुनौती देने के लिए उल्टे और अन्यायपूर्ण वस्तुजगत को उलट देना ही एक मात्र विकल्प है –

सोचो तो सिर्फ़ सोचने से
कुछ होने–जाने का नहीं
जबकि करने को पड़े हैं
उलटी चीजों को उलट देने जैसे ज़रूरी
और ढेर सारे काम [17]

गोरख बदलाव की प्रक्रिया में विचारों की भूमिका और जरूरत को नकारते नहीं

हैं. वे यथार्थ के परिवर्तन में विचारों की प्राथमिक भूमिका के साथ–साथ वस्तुजगत की भाववादी व्याख्या को नकार कर भौतिकवाद का पक्ष लेते हैं. रेने देकार्त ने जगत की भाववादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा था कि किसी चीज के होने या न होने के भी बारे में सोचना उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है. इसे जिस सूत्रवाक्य के रूप में देकार्त ने प्रस्तुत किया था वह परवर्ती भाववादियों के लिए मंत्र की तरह था कि "मै सोचता हूं इसलिए हूं" गोरख इसके ठीक विपरीत लिखते हैं कि –

सोचो तो यह भी कितना अजीब है
कि बिना सोचे भी
कुछ होने–जाने का नहीं
जबकि
होते हो
इसलिए सोचते हो. [18]

गोरख ने अपनी कविताओं को 'लोकरंजन' तक सीमित करने की जगह सर्वहारा वर्ग के शिक्षण–प्रशिक्षण का माध्यम बनाया. यही कारण है कि गोरख की कई कविताएं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सरल भाष्य हैं. 'कइसे चलेलें सुरुज–चनरमा' इस बात का उदाहरण है –

कइसे चलेलें सुरुज–चनरमा
धरतिया हे पिया केकर बनावल
सुरुज–चनरमा चलें अपनी गतिया
धरतिया हे धनि गति के बनावल [19]

सदियों से बनाए गए सामान्यबोध कि – धरती शेषनाग के फन पर टिकी हुयी है, ईश्वर ने इस संसार की रचना की है इसलिए जो कुछ भी है उसे बदलने की कोशिश करना ईश्वर के काम में दखलंदाज़ी है आदि, का प्रत्याख्यान किया गया है. सामंती विचारों के प्रभुत्व में रहने वाले सर्वहारा के लिए इस बात का ज्ञान, कि सब कुछ भौतिक पदार्थों की गति से निर्मित है, उसके हाथ में एक ऐसे औजार का आ जाना है जिसकी मदद से वह सदियों से चले आ रहे शोषण से मुक्ति के बारे में सहजता से सोच सकता

है. 'मेहनत का बारहमासा', 'समय का पहिया' आदि कविताएं भी गोरख द्वारा कविता को वर्ग–संघर्ष में सर्वहारा के शिक्षक की भूमिका में खड़ा करने और जनता की अपनी संस्कृति निर्मित करने की प्रतिज्ञा का प्रतिफलन हैं.

अपने अनेक लेखों और साक्षात्कारों में आइस्लर [20] ने आधुनिक पूंजीवादी समाज में संगीत और कला के संकट को चिन्हित किया. उन्होंने कहा कि "समाज में संगीत के उद्देश्य पर अब अधिक सवाल खड़े हो रहे हैं तथा संगीत और समाज के बीच की खाईं और बढ़ती जा रही है. ..... आधुनिक संगीत के सामने आज सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि कौन लिख रहा है और किसके लिए लिख रहा है." आइस्लर के लिए आधुनिक संगीत का संकट उसका श्रोताओं के साथ अलगाव के कारण है जिसे "प्रगतिशील बुद्धिजीवियों, संगीतकारों के मज़दूर वर्ग के साथ एकताबद्ध होने" के जरिए हल किया जा सकता है. [21] आइस्लर ने आगे भी कहा कि क्रांतिकारी संगीतकार को अपने आप को जनान्दोलन से संबंध विच्छेद करके नहीं रखना चाहिए. अपने कमरे में बैठकर मज़दूर वर्ग के लिए लेखन करना पर्याप्त नहीं है. उसे निश्चित ही मज़दूर वर्ग के सामाजिक जीवन और संघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी करनी चाहिए.[22] पूंजीवादी समाज के भीतर संगीत और कला का जो संकट आइस्लर देख रहे थे वह केवल पूंजीवादी समाज के भीतर का ही सत्य नहीं था. हिंदी साहित्य में भी उसी तरह के संकट के बारे में गोरख लिख रहे थे. उनके सामने भी यह सवाल था कि "जनवादी कविता के नाम पर लिखी जा रही ढेर सारी कविताएं जनता की कविता क्यों नहीं बन पा रही हैं? निरक्षर लोगों की बात अगर छोड़ दें तब भी यह कविता आम पढ़े–लिखे लोगों के बीच क्यों नहीं जा पा रही है? यह या तो खुद लेखकों के बीच पढ़ी–गुनी जाती है या फिर चंद ऐसे लोगों के बीच, कविता में जिनकी बहुत खास दिलचस्पी है." [23] गोरख इस प्रश्न के विश्लेषण के दौरान इस संकट के अनेक कारकों की ओर इंगित करते हैं. जहां आइस्लर इस बात पर जोर दे रहे थे कि अपने कमरों में बैठकर मज़दूरों के बारे में लिखना एकदम अपर्याप्त है वहीं गोरख भारतीय परिस्थितियों में इस प्रवृत्ति की बहुत स्पष्ट वर्गीय शिनाख्त करते हैं – ".... निम्न–पूंजीवादी दृष्टि..... शासक वर्ग और जनता की दृष्टियों के बीच रास्ता बनाने की कोशिश करती है..... यह जनजीवन के प्रति

निष्क्रिय सहानुभूति और यथार्थ के प्रति अपेक्षाकृत अमूर्त रूप अपनाती है. समाज को यह व्यक्ति के हाशिए पर रखने की कोशिश करती है और इस पर घर–परिवार, व्यक्तिगत सुख–दुःख आदि ही ज़्यादा हावी रहते हैं. यह विचार की जगह अनुभव को, लोकप्रियता की जगह जटिलता को और अन्तर्वस्तु की जगह कला को ज़्यादा महत्व देती है.'' [24] हिंदी कविता के जनता की कविता न बन पाने के पीछे के कारकों की तलाश करते हुए गोरख इसके जनता की भाषा और जातीय संवेदना से कटते चले जाने को भी एक मुख्य कारण मानते हैं. ''छायावाद के दौर से ही हिन्दी कविता की भाषा आम जनता में प्रचलित हिंदी से दूर चली गई है. छायावादी कवि हिंदी में कविता बनाने के लिए संस्कृत के शब्द भंडार पर निर्भर हो गए थे..... यह भाषा को आम जनता की भाषा से अलगाने और साहित्य की कुलीन भाषा ग़ढ़ने का काम था. उस समय कविता के कुछ आलंबन भाव और बिंब योरप के रोमानी कवियों से लिए जाने लगे थे.'' [25] ये भाव और बिंब हमारी जातीय संवेदना से जुड़े नहीं रहे. इसके चलते आम जनता के साथ कविता का अलगाव होता चला गया. इस अलगाव को खत्म करने के लिए साहित्य के एजेंडे में परिवर्तन आवश्यक है. यदि साहित्य का एजेंडा जनता की चेतना में परिवर्तन करना है तो जनता की चेतना के विभिन्न स्तरों के साथ उसकी गहरी अंतःक्रिया ही वह रास्ता है जिसके माध्यम से साहित्य और जनता के बीच के इस अलगाव और उससे पैदा हुए संकट को हल किया जा सकता है. गोरख नक्सलबाड़ी आंदोलन को वह प्रस्थानबिन्दु मानते हैं जहां से हिंदी कविता अन्तर्वस्तु ही नहीं रूप के स्तर पर भी स्वयं को जनता के करीब ले जाने की सचेत कोशिश करती है. उसने दोयम दर्जे की रचना माने जाने वाले गीतों को आंदोलन की ताकत और ऊर्जा से संपन्न किया. यह एक अर्थ में परंपरा से अलगाव भी था और विच्छेद भी. (नक्सलबाड़ी आंदोलन ने) ''कला की अराजकता और कलावाद के विभिन्न रूपों को झटके से तोड़ते हुए हिंदी कविता के नए आयाम खोले, जिनमें मैं समझता हूं कि विभिन्न बोलियों में लिखे और जनता के संघर्षों की आवाज बन जाने वाले गीतों की एक खास भूमिका रही है. गीतों को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत करने के कुछ प्रयोगवादियों के प्रयास को नाकाम करती हुयी दृष्टि ने जनता की कविता के सबसे उपयोगी रूप के तौर पर गीतों को विकसित करने

में और उन्हें प्रतिष्ठित करने में मदद पहुंचायी. यह लोकप्रिय कविता के विकास का वह जरूरी वैचारिक आधार तैयार कर रही है, जिससे एक बार फिर कविता सही मायनों में भारतीय जनता की कविता बन सकेगी.'' [26]

लोकप्रियता की शर्त पर जनता का साहित्य : जनसंस्कृति, जनभाषा और जनगीत

लोकप्रिय कलारूपों के बारे में विचार करते हुए बहुधा उनके बिकाऊपन, उनके बाजारूपन तथा सनसनी उत्पन्न करने की क्षमता के बारे में पूर्वधारणाएं काम करती है. पॉपुलर आर्ट इस हद तक बाजार के साथ संबद्ध मानी जा चुकी है कि प्रगतिशील जनवादी कला का लोकप्रिय न होना मानो स्वयंसिद्ध हो गया है. पीपुल्स आर्ट (जन कला) क्यों नहीं पॉपुलर आर्ट (लोकप्रिय कला) भी हो सकती ? मार्क्स, एंगेल्स लोकप्रिय कलारूपों के प्रति बेहद आकर्षित थे, अनेक देशों के महाकाव्यों, लोक वार्ताओं, लोकगीतों, लोक कथाओं, मुहावरों का वे न केवल अपने विपुल लेखन में इस्तेमाल करते हैं बल्कि उन्हें मनुष्यता की साझी विरासत के तौर पर परिभाषित करते हैं. माओत्से तुंग से लेकर बर्टोल्ट ब्रेष्ट तक लोक रूपों और जनता की चेतना में विन्यस्त परिवर्तनकारी और लोकग्राह्य तत्वों का बेहतरीन अभिनिवेश अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक कर्म के दौरान करते दिखायी पड़ते हैं. गोरख इस पूरी विरासत का वहन करते हुए इस प्रश्न को सांस्कृतिक आंदोलन की चुनौती के रूप में अपने सामने रखते हैं. गोरख के लिए इतना ही महत्वपूर्ण नहीं था कि साहित्य और संस्कृति का सृजन मज़दूरों और किसानों के लिए हो उनके लिए यह कम महत्वपूर्ण नहीं था कि मजदूर और किसान इसे समझ भी सकें और अपना मान सकें. छायावाद और आधुनिकतावाद ने कविता को जनता से जिस परिमाण में दूर कर दिया था उससे भी अधिक परिमाण में उसे वापस जनता के साथ रिश्ता कायम करने का उद्यम गोरख आवश्यक मानते थे. उन्होंने इसे जन संस्कृति की एक बड़ी समस्या माना और लोकप्रियता को जनपक्षधर साहित्य का एक महत्वपूर्ण निकष बनाने का संघर्ष छेड़ा. ''जनता का साहित्य या कला वही होगी, जिसे जनता समझने में समर्थ हो. मौजूदा हालात में लोकप्रिय (सरल) रचना ही इस मांग को पूरा करती है'' [27]

गोरख ने अपने लेख 'सरलता के पक्ष में' में विष्णु नागर द्वारा पेश की गई जटिल और जनपक्षधर साहित्य की अवधारणा का खंडन करते हुए संस्कृतिकर्मी के लिए ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण को एक मुख्य काम के बतौर रखा. विष्णु नागर जनता की चेतना में विविध स्तरों का होना नहीं स्वीकार करते और यह स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि जनता की चेतना का एक ही स्तर है और वह काफी विकसित है, जनता की चेतना को विकसित करने की बात करना ही घोर सामंती और जन विरोधी है. गोरख ने उनकी स्थापना पर व्यंग्य करते हुए कहा कि "जनता के प्रति आदर भाव दर्शाते हुए वे कहते हैं कि जनता की समझ अपने विकसित रूप में है. उसे अविकसित मानकर विकसित करने का भार उठाने वाले, सरल, लोकप्रिय लेखन करते हैं. चूंकि जनता की समझ विकसित रूप में है, इसलिए ऐसे लोगों का लेखन अप्रासंगिक है. प्रासंगिक लेखन तो जटिल और अलोकप्रिय ही होगा." [28] जनता की समझ को विकसित मान लेने का तर्क दरअसल यथास्थितिवाद के पक्ष में जाकर खड़ा हो जाता है. फिर जनता की वास्तविक समझ की क्या स्थिति है इस बात का पता कैसे लगाया जा सकता है. इस प्रश्न का बना बनाया जवाब न तो किसी मार्क्सवाद की पुस्तक में उपलब्ध है और न ही किसी कलाकृति में. गोरख लिखते हैं कि "इसका जवाब भारत की जनता के निकट संपर्क से, उसकी भावनाओं, विचारों और व्यवहार की ठोस जांच–पड़ताल से मिलेगा. सब जानते हैं कि भारतीय जनता का बड़ा हिस्सा अब भी किसानों का है. किसानों में भी अनेक तबके हैं. उनमें भूमिहीन और गरीब किसान बड़ी संख्या में हैं, जो अपने देश के सबसे शोषित–उत्पीड़ित लोगों में से हैं, किसानों की समझ पर आज भी मध्यकालीन अंध–विश्वासों, भाग्यवाद, तन्त्र–मन्त्र और जातिवाद आदि का व्याप्क असर है. खेती–बाड़ी के मामले में वे सदियों से अर्जित अनुभव–जन्य ज्ञान का उपयोग करते हैं. इसे उनका सामान्य बोध या कॉमनसेंस कहा जाता है. लेकिन यथार्थ और सामाजिक संबंधों के बारे में उनकी चेतना अंध–विश्वासों की गिरफ़्त में फंसी हुयी है..... दूसरी तरफ किसानों का एक हिस्सा सरकारी दमन और सामंती भूमि–संबंधों के खिलाफ बगावत कर रहा है. ..... यानी किसानों की चेतना कहीं मध्यकालीन अंधविश्वासों के गर्त में डूबी हुयी है, बहुत अविकसित है, तो कहीं सामाजिक

परिवर्तन की मशाल बन चुकी है, पर्याप्त विकसित हो गई है. वह विकसित, अविकसित और बीच के अनेक स्तरों में है.'' [29] अपने इसी लेख में आगे गोरख ने मज़दूर वर्ग की चेतना के विविध स्तरों का भी विश्लेषण किया है और दिखाया है कि परंपरागत कम्युनिस्ट पार्टियों, जिनका मज़दूर वर्ग पर काफी असर था, के द्वारा चलाए गए अर्थवादी आंदोलनों ने मज़दूरों की चेतना को विकसित करने की जगह उनके भीतर सांप्रदायिक शक्तियों के लिए जमीन तैयार की है. इस तरह संभावित क्रांतिकारी तबके के भीतर चेतना के विविध स्तरों के साथ अंतःक्रिया करते हुए संस्कृतिकर्मी का काम उनकी चेतना को रूपान्तरित करना हो जाता है. ''समाज में कलाकार की भूमिका का अर्थ यही है कि वह आम जनता की चेतना के बिखरे हुए तत्वों को संगठित करने, उन्हें व्यापक और गहन करने तथा सही दिशा प्रदान करने में मदद करे. इसका सीधा अर्थ यह है कि पार्टी की तरह कला और संस्कृति करने वालों की चेतना अपेक्षाकृत विकसित स्तर की हो.'' [30] गोरख संस्कृति के संकट का हल जनजीवन के साथ आवयविक जुड़ाव में देखते हैं. उनका मानना है कि जन जीवन ही साहित्य संस्कृति के भी जीवन का स्रोत है. वे दिखाते हैं कि जन जीवन ने हमेशा ही साहित्य को प्राण प्रदान किया है चाहे वह भक्ति आंदोलन रहा हो, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन या बाद के जन–आंदोलन. इसीलिए उनके लिए साहित्य और संस्कृति ''लोकातीत और परात्पर संरचना'' नहीं हैं बल्कि समाज के विकास की प्रक्रिया में निर्मित किए गए उत्पाद हैं. विभिन्न वाद्ययंत्रों से लेकर लेखन के साधन कलम का विकास सामाजिक विकास की प्रक्रिया में उसी तरह हुआ है जैसे हल या फाल का. संस्कृति इन्हीं भौतिक साधनों के द्वारा निर्मित की जाती है और ''नृत्य में समूचा मानव–शरीर, जो अपनी समूची संरचना में भौतिक है, कला बन जाता है.'' [31]

ग्राम्शी ने इटली में कम्युनिस्ट आंदोलन की असफलता को देखा था. यह असफलता मज़दूर आंदोलन के साथ किसानों को एकताबद्ध न कर पाने की थी जिसने न केवल मज़दूर वर्ग के आंदोलन की हार को सुनिश्चित किया बल्कि फासीवाद के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया. इसीलिए ग्राम्शी इस बात पर खासा जोर देते हैं कि किसान तबके के भीतर जहां कहीं भी और जितने ही भ्रूण रूप में क्यों न हो क्रांति की आकांक्षा

दिखाई पड़े उसे विकसित करने की जिम्मेदारी क्रांतिकारी आंदोलन की होती है. गोरख जनता के साहित्य के लिए इसे एक प्रमुख कार्यभार मानते हैं जिसे उन्होंने 'तुम्हें डर है' शीर्शक कविता में भी व्यक्त किया है –

हज़ार साल पुराना है उनका गुस्सा
हजार साल पुरानी है उनकी नफ़रत
मै तो सिर्फ
उनके बिखरे हुए शब्दों को
लय और तुक के साथ लौटा रहा हूं
मगर तुम्हें डर है कि
आग भड़का रहा हूं. [32]

इस देश के भीतर किसानों के संघर्ष और उनके विद्रोहों की एक लंबी परंपरा रही है जो अपनी अन्तर्वस्तु में कई बार प्रगतिशील भी रहे हैं लेकिन कोई स्पष्ट विचारध ाारात्मक दिशा होने के अभाव में वे बहुत दूर तक नहीं जा सके. आज़ादी की लड़ाई के दौरान भी इस तरह के किसान विद्रोहों ने शासक वर्ग द्वारा निर्धारित की गई सीमाओं को कई बार तोड़ा भी लेकिन वे राजनीतिक रूप से कोई वैकल्पिक एजेंडा तय नहीं कर पाए. तेलंगाना के विद्रोह ने जरूर ऐसा करने में सफलता प्राप्त की और उसकी कोख से जन्मा नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह इस मामले में अन्य किसान विद्रोहों से भिन्न था कि उसने एक विचारधारात्मक दिशा के साथ निरंतर किसानों की चेतना के विकास का एजेंडा क्रांतिकारी आंदोलन के सामने रखा. इस आंदोलन ने सामाजिक परिवर्तन की धुरी के रूप में कृषि–क्रांति को और उसकी मुख्य प्रचालक शक्ति के रूप में भूमिहीन ग्रामीण गरीबों को स्थापित किया. गोरख अपनी इस कविता में जब यह कह रहे हैं कि वे हज़ारों साल के गुस्से और नफ़रत को तुक और लय के साथ लौटा रहे हैं तो उनका अभीष्ठ है गुस्से और नफरत को क्रांतिकारी एजेंडे के अनुरूप विकसित करना, उसे दिशा देना.

ग्राम्शी ने बार–बार इस बात पर जोर दिया कि मार्क्सवाद को "जन दर्शन" होने के नाते 'आम समझ' और उसके "परंपरागत दर्शन" के साथ भी एक गंभीर पॉलिमिक

और निरंतर संघर्ष में जाना चाहिए क्योंकि यह 'आम समझ' "जनता का स्वतःस्फूर्त दर्शन" है.[33] जनता के इस "स्वतःस्फूर्त दर्शन" के साथ संघर्ष के औजार क्या होंगे यानी मार्क्सवाद इस अंतःक्रिया को कैसे संचालित करेगा यह एक बड़ा प्रश्न है. परंपरागत दर्शन अपने को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह लोगों के सामान्य बोध का हिस्सा बनकर उनका अपना दर्शन लगने लगता है. जिससे मुक्ति का एक रास्ता यह भी है कि मार्क्सवाद जनता के साथ अंतःक्रिया को जनता की अपनी भाषा और अपने मुहावरे में संभव बनाए. जनभाषा और मुहावरे के इस्तेमाल में अनेक खतरे भी हैं क्यों कि भाषा अपने आप में कोई निरपेक्ष चीज नहीं है बल्कि यह "सामूहिक श्रम को संगठित करने की जरूरत" के चलते पैदा हुयी.[34]

भाषा के माध्यम से भी शोषक अपने पक्ष में एक सामान्य बोध निर्मित करता है. टेरी इगल्टन भाषा की विचारधारा का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि "मैं भाषा को महज़ अधिरचना का तत्व नहीं मानता. भाषा के बिना मनुष्यों के स्तर पर कोई भौतिक उत्पादन संभव नहीं है. सर्वप्रथम तो भाषा एक भौतिक यथार्थ है इसीलिए भौतिक उत्पादन की शक्तियों का हिस्सा है. उसके बाद ही यह सामान्य मानवीय यथार्थ, सामाजिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक स्तरों के ऐतिहासिक रूपों में विकसित होती है."[35] जनभाषा के प्रयोग को अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण मान लेना गलत निष्कर्षों तक ले जा सकता है. क्योंकि हो सकता है कि जनभाषा और उसके मुहावरे, शासक वर्ग के विचारों के वाहक के बतौर ही निर्मित किए गए हों. इसलिए सजग कवि जनभाषा का भी संस्कार करता है. या वह जनभाषा को जनता की मुक्ति की भाषा बनाता है. यह जनभाषा शासक वर्ग की भाषा के विरुद्ध खड़ी होती है. भक्ति आंदोलन के समय जनभाषा का यही चुनौती देने वाला रूप हमें दिखाई पड़ता है जब कबीर शासक वर्ग की भाषा संस्कृत की रूढ़िबद्धता पर सवाल खड़ा करते हुए कहते हैं कि 'संस्किरत है कूप जल भाखा बहता नीर.' साहित्य में जनभाषा के प्रयोग की जो बढ़तरी भक्ति आंदोलन में देखी जाती है उसने साहित्य के लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया को तेज किया. समाज के जिन तबकों के लिए संस्कृत पढ़ना प्रतिबंधित था उन्होंने भी अपनी–अपनी मातृभाषाओं में कविताएं लिखीं, अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया.

एजाज़ अहमद ने लिखा कि भक्ति आंदोलन में लोक भाषाओं के प्रयोग के जरिए साहित्य के लोकतांत्रीकरण की जो प्रक्रिया शुरू हुयी थी, उसे बाद के दौर में पलट देने की कोशिश की गई. हिंदी को फिर से संस्कृत भाषा से आक्रांत करके इसे अंजाम दिया गया. [36] हिंदी नवजागरण के समय से ही भाषा के मानकीकरण के पर्दे में उसे जनता से दूर ले जाने की कोशिश की गई. इस प्रक्रिया ने वर्ग, जाति और सांप्रदायिक वर्चस्व को मज़बूत किया और भारतीय समाज में फासीवाद के लिए जमीन तैयार की. ग्राम्शी ने भी इटली में फासीवाद के उदय के कारणों की पड़ताल करते हुए लिखा कि इटली के नवजागरण ने एक ऐसे रूढ़िवादी "लैटिन शास्त्रीयतावादी" वर्चस्व को स्थापित किया जिसने 13–14 वीं सदी के लोकप्रिय और जनतांत्रिक–जनभाषायी संस्कृति को पराजित कर अपने अधीनस्थ बना लिया. [37]

गोरख कविता के जनता से कटने की जो समस्या रख रहे थे वह केवल कविता की ही नहीं पूरी हिंदी भाषा के जनता से अलगाव की समस्या है. हिंदी क्षेत्र की "लोकतांत्रिक नागरिकता की भाषा" संस्कृत से आक्रांत हिंदी नहीं बल्कि लोकभाषा के अपने विविध रूपों के साथ वाली हिंदी ही हो सकती है. [38] गोरख के सामने यह समस्या थी कि यदि साहित्य जनता के लिए लिखा जा रहा है तो इसके प्राथमिक पाठक या स्रोता किसान–मज़दूर होने चाहिए. इस मानदंड को सामने रखकर रचना करने का सीध ा अर्थ है "जनता का साहित्य या कला वही होगी, जिसे जनता समझने में समर्थ हो" [39] लेकिन गोरख जनभाषा के जैसे–कैसे भी इस्तेमाल के खतरे से वाकिफ थे, इसलिए उसके खिलाफ थे. कला की भाषा "आम जनता के भाषा का संस्कारित रूप होती है. इसका मतलब यह है कि कला की भाषा आम जनता की भाषा में निहित संप्रेषण की क्षमता को सीमित करने के बजाय और विस्तार देती है, उसे और व्यंजक बना देती है. " [40] इसीलिए गोरख जनता के साथ कविता के अलगाव के संकट को समाप्त करने के लिए यह प्रयास करते हैं जिन ढांचों को खड़ा करके यह अलगाव पैदा किया गया है उन्हें तोड़ा जाय. उनका मानना था कि "जनवादी कविता जनता की ओर फिर तभी जा सकेगी, जब प्रयोगवाद और नई कविता के दौरान बनाए गए ढांचों को तोड़ दिया जाए और हिन्दी को विभिन्न बोलियों की ऊर्जा से सम्पन्न करते हुए लोकप्रिय मुहावरे

का विकास किया जाए.'' [41]

गोरख जनभाषा को संस्कार देकर जिस लोकप्रिय मुहावरे को विकसित करने की बात कर रहे थे, वह लोकप्रिय मुहावरा जनता की अपनी भाषा और जातीय चेतना से जुड़ा हुआ लोकगीतों का भी हो सकता है, इस संभावना को वे लगातार तलाशते रहे. लोकगीतों का जन्म और विकास कृषि–अर्थव्यवस्था के दौरान सामूहिक श्रम के गीतों के रूप में हुआ जो आम जनता द्वारा अपनी भाषा में अपने जीवन के दुःख और उल्लास की अभिव्यक्ति थे. यदि इस बात से इन्कार न किया जाए कि उत्पादन संबंध और उत्पादन प्रणाली हमारी चेतना के निर्धारक तत्व हैं तो यह मानने से कोई गुरेज न होगा कि लोकगीतों में आमतौर पर जनमानस की पीड़ाओं की अभिव्यक्ति तो हुयी लेकिन वे पीड़ाओं से निज़ात पाने के गीत नहीं थे. इन गीतों में श्रमिकों द्वारा अपनी पीड़ाओं का बयान भी एक प्रकार का प्रतिरोध है और बहुत कम समय के लिए पीड़ाओं से मुक्ति का एहसास भी है, लेकिन इसके आगे और कुछ नहीं. आइस्लर लोकगीतों की पूंजीवादी समाज में स्थिति के बारे में लिखते हैं कि ''लोकगीतों का जन्म आदिम अर्थव्यवस्थाओं विशेष रूप से कृषि अर्थव्यवस्थाओं में हुआ. आधुनिक पूंजीवाद लोकगीतों के लिए उचित भूमि नहीं है. लोक संस्कृति आज उसी तरह समाप्त हो रही है जैसे हस्तशिल्प'' आइस्लर आगे इस बात को दिखाते हैं कि समाप्त होती हुई लोकपरंपरा का स्थान नए रूप ले रहे हैं. लोकगीतों की जगह लेने वाले नए रूपों को आइस्लर ''जनगीत'' (mass song) कहते हैं. [42]

पूंजीवादी समाज में लोकगीतों की स्थिति का सच यह हो सकता है लेकिन भारत जैसे देश में जहां अभी भी कृषि अर्थव्यवस्था बहुत मजबूत है बल्कि कुछ स्थानों पर तो अपने आदिम रूप में मौजूद है, वहां लोकगीतों की स्थिति भी भिन्न है. यहां लोकगीत विलुप्त होती हुयी ऐसी कला नहीं हैं जिन्हें संरक्षित किया जा रहा हो बल्कि वे अपने जीवन्त रूप में अस्तित्व में हैं. चूंकि लोकगीत श्रमिकों की जातीय संवेदना के साथ गहरे जुड़े होते हैं और सामूहिक श्रम की अभिव्यक्तियां हैं इसलिए सामूहिक रूप से उनकी चेतना में परिवर्तन के साधन भी हो सकते हैं. जैसा कि पहले कहा गया कि लोकगीत एक प्रकार का प्रतिरोध भी हैं और थोड़े समय के लिए दुखों से मुक्ति का

एहसास भी कराते हैं. लोकगीतों की यह भूमिका अपने अंतिम निष्कर्षों में मज़दूरों की पक्षधर हो यह आवश्यक नहीं है क्योंकि कई बार यह मज़दूर वर्ग की अपने शोषकों के प्रति घृणा के भाव का विरेचन भी करते हैं. इसीलिए बहुधा लोकगीत अपने उत्पादन संबंधों में बदलाव की बात तक नहीं जा पाते. कुछ इलाकों में जहां किसी न किसी समय किसान आंदोलन का प्रभाव रहा है वहां अपवाद स्वरूप एकाध लोकगीत इस तरह के भी मिल जाते हैं. गोरख को सदैव ही यह लगता था कि लोकगीतों को जनशिक्षा के साधन के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है बशर्ते ऐसा सतर्कता पूर्वक किया जाए. ''श्रम से पैदा हुए गीत श्रम की मुक्ति के गीत'' बन सकें इसके लिए गोरख ने लोकगीतों के साथ भी कई प्रयोग किए.[43] उन्होंने कहा कि कलात्मकता और लोकप्रियता एक दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि सहयोगी हैं. हम मध्यवर्ग के लिए या उच्चवर्ग के लिए किसान और मजदूर के जीवन और संघर्ष से जुड़ी रचनाएं नहीं करते, हमारे प्राथमिक श्रोता और पाठक खुद मजदूर और किसान हों, इस पर ध्यान देना चाहिए.' अपनी इसी प्रतिज्ञा के चलते उन्होंने सरलता के पक्ष में संघर्ष चलाया और यथार्थ के नए कलारूपों के बतौर भोजपुरी लोकगीतों को नया तेवर दिया. गोरख इन कलारूपों की लंबी परंपरा और जनता के भीतर इनकी जड़ों की ताकत को निचोड़कर बिल्कुल नई अन्तर्वस्तु से समृद्ध करके इन्हें जनता को वापस करते हैं. उन्होंने लोकगीतों के प्रचलित रूपों सोहर, कजरी, होरी, गारी, धोबियउवा, और निर्गुण आदि का इस्तेमाल अपने गीतों में किया. गोरख के यहां सावन के उल्लास को व्यक्त करने वाली पारंपरिक कजरी 'मैना' शीर्षक कविता में, सामंती क्रूरता से लहूलुहान लोक की करुणकथा का स्वाभाविक छंद बन जाती है, होली में गाया जाने वाला फगुआ 'ज़मीन' शीर्षक कविता में जमीन–दखल का गीत बन जाता है, घर में बेटा पैदा होने के उल्लास पर गाया जाने वाला सोहर 'जनता के पलटनि' शीर्षक कविता में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वहारा के संघर्षों की एकजुटता का और 'सपना' शीर्षक कविता में जनसंघर्षों की जीत के साकार होने का गीत बन जाता है, शादी विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गारी 'समाजवाद' शीर्षक कविता में भारतीय शासक वर्ग द्वारा समाजवाद के निर्माण के वादे की पोल खोलने वाली और 'पैसे का गीत' शीर्षक कविता में पूंजी के क्रूर और अमानवीय चरित्र को

उद्घाटित करने वाली बनकर आती है, धोबी समुदाय का गीत धोबियउवा 'कोइला' शीर्शक कविता में सचेत होते और सवाल करते मज़दूर वर्ग के चित्र के रूप में, 'मल्लाहों का गीत' श्रमिक वर्ग के श्रम की लूट के आख्यान के रूप में आता है. भक्ति आंदोलन की संत परंपरा से विकसित हुआ 'निर्गुण', जिसे आमतौर पर दलित जातियों में अभी भी गाया जाता है, गोरख की कविता में भारतीय पूंजीपति के दलाल और परनिर्भर चरित्र को सामने रखता हुआ आता है. इस गीत में विद्रोही कवि कबीर से क्षमा मांगते हुए गोरख उनके मुहावरे का इस्तेमाल करते हैं –

पुलिस फ़ौज के बल पर राजे बोले मधुरी बानी
यह कठपुतली कौन नचावे पंड़ित भेद न पावे
सात समुंदर पार बसे पिय डोर महीन घुमावें
रूबल के संग रास रचावै डालर हाथ बिकानी
माया महा ठगिनि हम जानी. [44]

इन सारे ही प्रयोगों में इस बात के प्रति पर्याप्त सतर्कता रखी गई है कि वे किस तरह ग्रहण किए जाएंगे. जनता के भीतर जड़ जमाए इन कलारूपों की अन्तर्वस्तु को न केवल सचेत राजनीतिक दृष्टि के द्वारा विस्थापित किया गया है बल्कि उनके मूड में भी एक सचेत बदलाव किया गया है. मसलन उल्लास के गीत कजरी का मूड बदलकर 'मैना' शीर्षक कविता में करुणा कर दिया गया है. यह एक सायास प्रयत्न है जिसके द्वारा आम लोगों की बहुत जानी पहचानी धुन भी अपनी भिन्न अंन्तर्वस्तु के चलते अजनबियत पैदा करती है. इतना ही नहीं लोकगीत जो सामंती समाज के मन की संरनाएं हैं वे इतनी जनतांत्रिक अंतर्वस्तु को वहन करते हुए भी अजनबियत पैदा करते हैं. यही अजनबियत श्रमिकों को इसके कारणों पर सोचने को विवश करती है. ऐसा नहीं है कि लोकगीतों के साथ इस तरह के प्रयोगों के अपने संकट नहीं हैं. लोकगीतों और लोकधुनों के इस तरह के इस्तेमाल की सामर्थ्य और सीमा वही है जो मिथकों के प्रयोग की है. लेकिन गोरख ने बड़ी कुशलता के साथ लोकगीतों की सामर्थ्य का न केवल उपयोग किया बल्कि उसे नई सामर्थ्य भी प्रदान की.

शासक वर्ग भी लोकगीतों की शक्ति और सामर्थ्य से अच्छी तरह वाक़िफ है. वह

भी अपने पक्ष में लोक संस्कृति का इस्तेमाल करना चाहता है. उसके द्वारा निर्मित बाज़ार हमेशा ही लोकसंस्कृति के मुहावरे को विकृत और भौंड़े रूप में पेश करता है. हांस आइस्लर ने प्रामाणिक लोकगीतों और उनके विकृत बाजारू संस्करण के बीच विभेद करते हुए लिखा कि लोकगीतों के बाजारू संस्करण भ्रष्ट मनोरंजन उद्योग के उत्पाद हैं जो "प्रामाणिक लोकगीतों के मुहावरों को 'उधार' लेते हैं लेकिन विकृत और भौड़े रूप में" [45] उदाहरण के लिए भोजपुरी लोकगीतों के साथ इस समय मनोरंजन उद्योग जिस तरह का बर्ताव कर रहा है उसने आम चेतना में भोजपुरी लोकगीतों को अश्लील गीतों के पर्याय के रूप में स्थापित कर दिया है. इतना ही नहीं यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक प्रतिष्ठित रॉक समूह Indian Ocean ने गोरख के सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में से एक 'जनता के पलटनि' को उसके पूरे संदर्भ से काटकर गाया है. इस गीत में दुनिया भर के श्रमिकों के संघर्षों की एकता के संदर्भों को न केवल काट दिया गया है बल्कि इसके साम्राज्यवाद विरोधी–सामंतवाद विरोधी संदर्भों को भी समाप्त करके इसे सामान्यीकृत और विकृत कर दिया गया है. इस उदाहरण के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि बाजार किस तरह जनता के संघर्षों के सबसे सशक्त गीतों को भी काट–छांट कर चमकदार रूप में परोसता है ताकि उसके प्रभाव को नष्ट किया जा सके.

संस्कृति और राजनीति

"राजनीतिक विचारों समेत आम विचारधारा और संस्कृति के बीच अंतः–संबंध जरूर है, लेकिन राजनीति और संस्कृति के अपने अलग क्षेत्र और विशेषताएं हैं. स्वतंत्रता और सौन्दर्य का सृजन तथा राजसत्ता पर नियंत्रण अलग–अलग चीजें हैं. राजनीति के सरोकार जहां राज्य पर कब्जा करने और उसे जनता तथा उसकी स्वतंत्रता के पक्ष में या विपक्ष में संचालित करने से तय होते हैं, वहां संस्कृति के सरोकार राज्य के अलावा जीवन के और पहलुओं की अभिव्यक्ति और पुनर्रचना से भी तय होते हैं. राजनीति आम तौर पर सामूहिक कर्म होती है, जबकि संस्कृति के अनेक काम सामूहिक होने के साथ व्यक्तिगत भी हो सकते हैं. अपने अनिवार्य सामाजिक संदर्भ के बावजूद लेखन और चित्रण काफी हद तक व्यक्तिगत कर्म बन गए हैं. इसके अलावा

राजनीतिक आंदोलन दैनन्दिन मांगों की जरूरतों के हिसाब से आगे बढ़ता है. उसमें तात्कालिकता का काफी महत्व होता है, जबकि सांस्कृतिक आंदोलन अक्सर तात्कालिकता का अतिक्रमण करते हुए आगे बढ़ता है.

इसलिए अगर सांस्कृतिक आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन की दैनिक गतिविधि ा से निर्धारित करते हैं, चिन्तन और रचना की दूरगामी जरूरतों को नजरअंदाज करते हैं या सांस्कृतिक आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन का स्थानापन्न या अनुवाद बनाने की कोशिश करते हैं तो यांत्रिकता को बढ़ावा देते हैं और संस्कृति के क्षेत्र को जरूरी पहलकदमी से वंचित करते हैं. इससे न तो राजनीतिक आंदोलन को मदद मिलेगी और न सांस्कृतिक आंदोलन विकसित हो पाएगा. इसका मतलब यह है कि हमें संस्कृति की सापेक्ष 'स्वायत्तता' के बारे में जागरूक होना चाहिए और उसकी हिफाजत करनी चाहिए. जो लोग संस्कृति को राजनीति का अनुवाद बनाने पर तुले रहते हैं, वे विचारध ाारात्मक रूप से पर्यवसानवादी या रिडक्शनिस्ट हैं. वे जीवन की गतिशील विविधता में विश्वास नहीं रखते. वे अक्सर बुर्जुवा विचारधारा के उस हमले के सामने असहाय साबित होते हैं, जो यांत्रिकता के विरोध के नाम पर संस्कृति को निरपेक्ष स्वतंत्रता की ओर, संस्कृति को जनता से काटकर कुलीनों की विलासिता का साधन बनाने की ओर निर्देशित होता है.'' [46]

ऊपर के लंबे उद्धरण का प्रसंग मार्क्सवादी सांस्कृतिक आंदोलन की विकास यात्रा से परिचित लोगों के लिए अपरिचित नहीं है. वास्तव में 'कला कला के लिए' जैसे नारों के विरोध में एक अतिवादी प्रवृत्ति कुत्सित समाजशास्त्र के रूप में कई बार मार्क्सवादी सांस्कृतिक दायरों में सर उठाती रही है. इसका भारी फायदा साम्राज्यवादी खेमा मार्क्सवाद विरोधी प्रचार को संचालित करने में उठाता रहा है. जिसके प्रभाव में कई बार मार्क्सवादी दायरे के लेखक और संस्कृतिकर्मी भी आते रहे हैं. मार्क्स और एंगेल्स ने तो आज से 150 वर्ष पहले भी कलात्मक रचनाशीलता को सामाजिक विकास के सामान्य नियमों के अधीन मानते हुए भी चेतना के एक विशिष्ट रूप के बतौर उसके विशिष्ट लक्षणों और खास बनावट के चलते उसकी आपेक्षिक स्वायत्तता को रेखांकित किया और कुत्सित समाजशास्त्र के खतरों से आगाह भी किया लेकिन इस खतरे से हर

दौर में संघर्ष करना जरूरी हुआ करता है. मार्क्स, एंगेल्स ने यह दर्शाने में कम पन्ने खर्च नहीं किए कि सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप जिनमें कलात्मक रचनाएं भी शामिल हैं, उस सामाजिक यथार्थ को सक्रिय ढंग से प्रभावित भी करते हैं जिनसे वे उपजे होते हैं. लेकिन कई बार तात्कालिक तकाजों के चलते या फिर समझदारी की कमी के चलते इन बुनियादी बातों को भुला दिया जाता है. ऐसे में इनका बारंबार रेखांकन हर दौर में संस्कृतिकर्म के लिए आवश्यक होता है.

गोरख समर्पणवाद और संकीर्णतावाद की दो प्रवृत्तियों को जन सांस्कृतिक आंदोलन के आत्मसंघर्ष के लिए आवश्यक मानते थे इसके लिए राजनीति और संस्कृति के रिश्तों के बारे में एक साफ समझ प्रस्तुत करना उनके लिए जरूरी था. 1975 में प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा इमर्जेंसी के खुले समर्थन को उन्होंने समर्पणवाद के एक प्रमुख उदाहरण के रूप में चिन्हित किया. बुर्जुवा या सामंती विचारधारा के सामने क्रांतिकारी विचारधारा का समर्पण तथा जनवाद की ऐसी पूर्ण स्वयत्त धारणा जिसमें सर्वहारा की विचारधारा को निषिद्ध बना दिया जाता है – इन दो प्रवृत्तियों को उन्होंने समर्पणवाद कहा. अराजकता, गुटबाजी, शुद्ध सांस्कृतिक क्रांतिवाद आदि को उन्होंने संकीर्णतावादी प्रवृत्ति के बतौर चिन्हित किया तथा इन प्रवृत्तियों के भी ठोस समकालीन उदाहरणों को रेखांकित किया. समर्पणवाद और संकीर्णतावाद की दोनों ही गलत प्रवृत्तियां राजनीति और संस्कृति के अंतर्संबंधों की गलत समझ अथवा निहित स्वार्थों के कारण पैदा होती हैं. गोरख इन स्वार्थों के वर्गीय स्रोतों की भी शिनाख्त करते हैं. उपरोक्त प्रवृत्तियों की व्याप्ति सांगठनिक दायरे में भी देखी जा सकती है. सांस्कृतिक संगठन की आवश्यकता से ही इन्कार करना और शासक वर्ग के बढ़ते दमनकारी रवैये के मुकाबले संस्कृतिकर्म को असंगठित और निस्सहाय बनाना और कुछ नहीं बल्कि एक निम्नपूंजीवादी प्रवृत्ति अतः समर्पणवाद ही है. दूसरी ओर समूचे सांस्कृतिक मंच को राजनीतिक दल या मोर्चे का घटक बना देना यानी सांस्कृतिक कर्म को राजनीतिक कर्म का अनुवाद बना देना एक तरह का संकीर्णतावाद ही है. इस प्रकार गोरख सांस्कृतिक आंदोलन की तमाम गलत प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करते हुए उसकी कार्यदिशा को अमल में लाने का रास्ता तय करते हैं. सांस्कृतिक आंदोलन की कार्यदिशा के बारे में

कुछ अन्य महत्वपूर्ण सूत्र जिन्हें गोरख ने रेखांकित किया, वे हैं – 1. सृजन के तमाम क्षेत्र जैसे फिल्म, लेखन, चित्रकला, संगीत आदि एक दूसरे से अलग–थलग न रह कर परस्पर जुड़ें, उनमें विचार और रचना का आदान प्रदान हो और इस तरह उनमें समान विकास की संभावनाएं बढ़ें. 2. विभिन्न भारतीय भाषाओं के बीच आदान–प्रदान खासतौर पर 1947 के बाद से लगातार शिथिल होता हुआ उर्दू–हिंदी के बीच का संबंध फिर से सचेत तरीके से कायम किया जाए. 3. सांस्कृतिक संगठनों में शामिल लोगों की भिन्न–भिन्न वस्तुगत और आत्मगत स्थितियों का धैर्यपूर्वक अध्ययन करते हुए उन सबके साथ एकता कायम करना जो मौजूदा सत्ता की जन विरोधी नीतियों के खिलाफ और जनता के पक्ष में खड़े होते हैं. जल्दबाजी में उन पर आरोप लगाना और उन्हें अलगाव में डालना गलत है.[47]

गोरख का वैचारिक लेखन

एक चिन्तक, संगठक और सर्जक की एकात्म भूमिका का निर्वाह करते हुए अपने कठिन और संक्षिप्त जीवन में उन्होंने महत्वपूर्ण वैचारिक लेखन किया. एम.ए. की डिग्री के लिए लिखे गए उनके शोध प्रबन्ध 'धर्म की मार्क्सवादी धारणा' को उक्त विषय की हिंदी में लिखी सर्वाधिक प्रामाणिक कृति माना जा सकता है. भारत जैसे पिछड़े हुए देश जिसमें धर्म का सामाजिक जीवन में भारी प्रभाव तथा राजनीतिक जीवन में उसकी सांप्रदायिक परिणतियों को देखते हुए गोरख के लिए यह अत्यंत प्रासंगिक विषय रहा होगा.

पी.एच.डी. डिग्री के लिए उन्होंने 'An Examination Of The Concept Of Alienation In Existentialism' विषय पर शोध प्रबंध प्रस्तुत किया. अस्तित्ववादी दर्शन का विश्वव्यापी प्रभाव, एक रैडिकल बुद्धिजीवी के रूप में सार्त्र की सदेह उपस्थिति और अंततः हिंदी साहित्य की आधुनिकतावादी प्रवृत्ति पर अस्तित्ववाद का गहरा असर वह परिप्रेक्ष्य निर्मित करता था जिसने गोरख को इस विषय पर शोध करने को प्रेरित किया होगा. सार्त्र के द्वारा सन् 68 के छात्र आंदोलन और वियतनाम युद्ध के विरोध में उनकी भूमिका के साथ–साथ उनके द्वारा अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में मेल बैठाने के प्रयास उस दौर में उन्हें एक बेहद दिलचस्प बौद्धिक व्यक्तित्व के रूप

में स्थापित कर रहे थे. गोरख ने अपने शोध प्रबंध की भूमिका में लिखा है "अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने अलगाव (Alienation) की धारणा को प्रचारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और इस समस्या के प्रति उनकी सतत दिलचस्पी ने आधुनिक मानवीय परिस्थिति के इस बुनियादी पहलू की ओर जरूरी ध्यान आकर्षित किया.... अलगाव की अस्तित्ववादी धारणा को समझने में मैने द्वंद्वात्मक पद्धति का आश्रय लिया है तथा 1844 में प्रकाशित मार्क्स की पुस्तक EPM में ही सर्वाधिक उनके द्वारा अलगाव के संदर्भ में व्यक्त विचारों का मुख्यतः आधार ग्रहण किया है.... मेरी दृष्टि में अस्तित्ववादी दर्शन के आस्तिक और नास्तिक दोनों ही रूपों में अलगाव की समस्या को भाववादी दृष्टि से समझा गया है लिहाजा अस्तित्ववाद ने समकालीन मानवीय परिस्थिति में भयावह ढंग से उपस्थित अलगाव की वास्तविक सामाजिक, ऐतिहासिक प्रकृति को समझने की चेष्टा नहीं की." [48] गोरख ने भूमिका में ही एक खरे मार्क्सवादी होने के नाते अपनी धारणा को साफ तौर पर रख दिया है. गोरख के ये दोनों ही शोध प्रबन्ध महज़ अकादमिक दायित्व निर्वाह से नहीं बल्कि मानवीय परिस्थिति के प्रति उनकी बुनियादी चिन्ताओं से प्रेरित है. संस्कृति को स्वतंत्रता के क्षेत्र के रूप में परिभाषित करने के पीछे उनकी यह द्वंद्वात्मक समझ ही सक्रिय थी कि सोवियत रूस आदि समाजवादी प्रयोगों में लोकतंत्र और स्वतंत्रता के मोर्चे पर मिली विफलता ने एक ऐसी कमजोरी को सामने ला दिया है जिसे दूर किया जाना समाजवादी प्रकल्प के विस्तार के लिए निहायत ही जरूरी है. अस्तित्ववाद के साथ उनका द्वंद्वात्मक संवाद वास्तव में शीतयुद्ध के समय उपस्थित महत्वपूर्ण विचार सरणियों के टकराव के बीच मार्क्सवादी व्यवहार और चिंतन को उन्नत किए जाने से संबंध रखता है. नई कविता के आत्मसंघर्ष के दौर में हिंदी साहित्य इस टकराहट से दो चार हो चुका था.

मार्क्सवाद के योरोपीय उद्गम के चलते उसके संघटक तत्वों में जर्मन क्लासिकीय दर्शन, फ्रांसीसी समाजवाद तथा ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र परिगणित होते हैं. तीसरी दुनिया के देशों में मार्क्सवादी चिंतकों ने द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की देशज परंपराओं को विकसित करने की चेष्टा की. ऐसे प्रयास कई बार बहुतेरे वैचारिक घालमेल की कीमत वसूल कर आकार ग्रहण करते आए हैं. हमारे देश में

आरंभिक मार्क्सवादियों का बौद्ध दर्शन के प्रति आकर्षण इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है. ऐसे में गोरख ने बौद्ध दर्शन और मार्क्सवाद के तुलनात्मक अध्ययन का भी प्रयास किया. उनके समस्त वैचारिक लेखन में एक सुबोध स्पष्टता दिखाई देती है जो कि निहायत पेंचीदा सैद्धांतिक प्रश्नों को अत्यंत ग्राह्य तरीके से प्रस्तुत करती है. गोरख के अंतर्ग्रथित व्यक्तित्व का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि रचना के धरातल पर वे जिस सरलता के पक्ष में संघर्ष करते हैं वह सरलता उनके गंभीर वैचारिक लेखन का भी प्राणतत्व है, बहुत कुछ माओत्से तुंग की तरह. गोरख का वैचारिक लेखन उन लोगों को करारा जवाब है जो सरल होने और सरलीकरण करने के बीच भेद नहीं मानते.

संदर्भ और टिप्पणियां

1 Terry Eagleton, Ideology : An Introduction, Verso, London, 1991, p 1-2

2 Marx-Engels, Manifesto of the Communist Party, A World to Win, p.100

3 मार्क्स, जर्मन आइडियालॉजी, अंग्रेजी, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1964, पृ. 38

4 गोरख पाण्डेय, सांस्कृतिक आंदोलन और एकता, लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच 1990, पृ. 145,

5 Aijaz Ahmad, '*Globalization and Culture*', paper presented at People's Convention Against Globalization, 21-23 March 2001

6 गोरख पाण्डेय, संस्कृति और स्वतंत्रता, लोहा गरम हो गया है, पृ. 17–18

7 वही, पृ. 19–20

8 Antonio Gramsci, *Selections From The Prison Notebooks, Orient Longman, Madras, 1996*, p.323

9 Terry Eagleton, Criticism and Ideology : A Study In Marxist Literary Theory, Verso, 1976, p. 64-65

10 Ibid.p. 101

11 Terry Eagleton, 'Brecht and Rhetoric', Against the Grain: Essays 1975-1985, Verso, 1986, p. 168-71

12 Bertolt Brecht, *'Theatre for Pleasure or Theatre for Instruction'*, People's Art in the Twentieth Century, Jan Natya Manch, Delhi, p. 177

13 Karl Marx, German Ideology, Progress Publishers, Moscow, Vol I, Part I

14 गोरख पाण्डेय, 'सोचो तो', जागते रहो सोने वालो, राधा कृष्ण प्रकाशन, 1983 पृ. 65

15 वही, पृ. 65–66

16 वही, पृ. 66

17 वही, पृ. 66–67

18 वही, पृ. 67

19 गोरख पाण्डेय, कइसे चलेलें सुरुज–चनरमा, लोहा गरम हो गया है, पृ. 74

20 हान्स आइस्लर ब्रेष्ट के साथी थे, उनके नाटकों में संगीत दिया करते थे. नात्ज़ी जर्मनी से निर्वासित होकर अमेरिका में रहे. हॉलीवुड में काम किया. Hangmen Also Die फिल्म में संगीत के लिए ऑस्कर पुरस्कार मिला. मैकार्थी के समय में उन पर अमरीका में मुकदमा चलाया गया और 'संगीत के क्षेत्र में कार्ल मार्क्स' होने का आरोप लगाया गया. अमेरिका से निर्वासित होकर वापस जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक में वापस लौटे और अपने जीवन के अंतिम 10 साल वहीं पर बिताए.

21 Manfred Grabs (ed.), Hanns Eisler - A Rebel in Music, Selected Writings, Seven Seas Publishers, Berlin 1978, p. 70-71

22 Ibid p. 100

23 गोरख पाण्डेय, 'समकालीन कविता में रूप की समस्याएं', लोहा गरम हो गया है, पृ. 75

24 वही, पृ. 77

25 वही, पृ. 78

26 वही, पृ. 77

27 गोरख पाण्डेय, 'सरलता के पक्ष में', लोहा गरम हो गया है, पृ. 82

28 वही, पृ. 79

29 वही, पृ. 80

30 वही, पृ. 81

31 गोरख पाण्डेय, 'संस्कृति और स्वतंत्रता', लोहा गरम हो गया है, पृ. 19

32 गोरख पाण्डेय, 'तुम्हें डर है', लोहा गरम हो गया है, पृ. 73

33 Gramsci, SPN, p. 420

34 गोरख पाण्डेय, 'संस्कृति और स्वतंत्रता', लोहा गरम हो गया है, पृ. 19

35 Terry Eagleton, Criticism and Ideology : A Study In Marxist Literary Theory, Verso, 1976, p. 55

36 Aijaz Ahmad, 'Fascism and National Culture', Social Scientist, Vol. 21, Nos. 3-4, March-April 1993, p. 55

37 Ibid. p. 55

38 Alok Rai, Hindi Nationalism, Orient Longman, 2000, p. 120-121

39 गोरख पाण्डेय, 'सरलता के पक्ष में', लोहा गरम हो गया है, पृ. 82

40 वही, पृ. 83

41 गोरख पाण्डेय, 'समकालीन कविता में रूप की समस्याएं', लोहा गरम हो गया है, पृ. 82–83

42 'Problems of Working Class Music' Manfred Grabs (ed.), op. cit., p. 99

43 गोरख पाण्डेय, 'नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और साहित्य', लोहा गरम हो गया है, पृ. 55

44 गोरख पाण्डेय, 'जागते रहो सोने वालो, राधा कृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 90)

45 Manfred Grabs (ed.), op. cit., p. 98

46 गोरख पाण्डेय, सांस्कृतिक आंदोलन और एकता, लोहा गरम हो गया है, पृ. 146–47

47 वही, पृ. 147

48 Gorakh Pandey, Preface, An Examination Of The Concept Of Alienation In Existentialism, Unpublished

अध्याय 3
गोरख का रचना संसार

गोरख का रचना संसार साहित्य की मुख्यधारा के नाम पर वर्चस्ववादी संस्कृति के समर्थन के खिलाफ निर्मित हुआ है. ये कविताएं सदियों से गुलामी की चक्की में पिसते आए मज़दूरों को मुक्ति के स्वप्न देती हैं, श्रम को जीवनमूल्य के रूप में स्थापित करती हैं, पितृसत्ता और सामंती दमन झेलती 'आधी आबादी' के पक्ष में पूरी प्रतिबद्धता के साथ खड़ी होती हैं. मज़दूरों–किसानों को राजदखल के लिए तैयार करने का प्रयत्न करती हैं. गोरख की कविताएं राजनीति और संस्कृति के स्तर पर सर्वहारा के वर्चस्व को कायम करने के एजेंडे के तहत लिखी गई कविताएं हैं. इस अध्याय को कविताओं की अंतर्वस्तु के आधार पर चार उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है – **1. 'सपने भी सुखी और आज़ाद होना चाहते हैं'** – इस खंड में गोरख की कविताओं में आने वाले 'स्वप्नों' की अंतर्वस्तु, उनके स्वरूप आदि के बारे में विचार किया गया है. **2. 'हमरे जंगरवा से धरती फुलाइल'** – इस खंड में श्रम को सृजन के आधार के रूप में स्वीकार करने और 'श्रम की विचारधारा' निर्मित करने के एजेंडे के साथ लिखी गई कविताओं का विश्लेषण किया गया है. **3. 'तकलीफ़ का उमड़ता हुआ समुंदर'** – के अंतर्गत अपने अधिकारों के लिए रोजमर्रा के जीवन में संघर्ष कर रही योद्धा महिलाओं, उन पर होने वाले पितृसत्ता व राजसत्ता के हमले के बारे में लिखी गई कविताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है **4. 'प्रियतम लोक कथा बन बैठा राजदखल का नारा'** – के अंतर्गत राजसत्ता के दमनकारी चरित्र, तीव्र होते वर्ग संघर्ष की विविध अभिव्यक्तियों और सर्वहारा द्वारा राजसत्ता पर कब्जा करने के बारे में लिखी गई कविताओं का विश्लेषण किया गया है.

सपने भी सुखी और आज़ाद होना चाहते हैं

सपने यथार्थ में पूरी न हो पायी आकांक्षाओं का प्रतिसंसार हैं. दुनिया के हर बड़े रचनाकार ने इस प्रतिसंसार की रचना अनेकों स्तरों पर की है. 70 के दशक मे, जब समाजवाद के नेहरूवादी मॉडल से व्यापक पैमाने पर मोहभंग हो चुका था और राजसत्ता अपने को कायम रखने के लिए लोकतंत्र का नकाब भी फेंक चुकी थी, जगह –जगह फूट पड़े आंदोलनों में इसी प्रतिसंसार को यथार्थ में तब्दील करने की बेचैनी

देखी जा सकती है. 1947 में साम्राज्यवादी सत्ता के अंत के बाद कम्युनिस्टों द्वारा दिया गया नारा 'ये आज़ादी झूठी है' समाज के उत्पीड़ित तबकों और युवाओं के बीच लोकप्रिय नहीं हो सका. यह नारा अंतिम तौर पर शासक वर्ग को वैधता देने के औजार के रूप में विकसित हो गया. झूठी आज़ादी का नारा देने वालों की समस्या यह थी कि वे यह स्वीकार ही नहीं कर पाए कि साम्राज्यवाद एक नए रूप में देशी पूंजीपति के माध्यम से देश पर राज्य कर रहा है. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शीतयुद्ध की शुरुआत और दुनिया को दो खेमों में बांटने की कोशिश के बीच नेहरू का गुटनिरपेक्ष देशों का नेता बनकर उभरना और सोवियत रूस के साथ उनकी मित्रता के संदर्भ में उस समय कम्युनिस्ट पार्टी ने यह माना कि कि साम्राज्यवाद के साथ देश का सीधा अंतर्विरोध बना हुआ है. यह अंतर्विरोध सीधे तौर पर अमरीका के साथ है. इस देश का पूंजीपति वर्ग नेहरू के नेतृत्व में सोवियत रूस के साथ मिल कर साम्राज्यवाद का विरोध कर रहा है, इसलिए सच्ची आज़ादी लाने के लिए देशी पूंजीपति तबके को सहयोग देना आवश्यक है. देशी पूंजीपति के चरित्र के बारे में गलत विश्लेषण ने कम्युनिस्टों की भूमिका को ज्यादा से ज्यादा एक दबाव समूह तक सीमित कर दिया. वर्ग–संघर्ष के स्थान पर वर्ग–सहयोग का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया जिससे निचले स्तर पर हताशा का जन्म हुआ.

1947 में मिली आज़ादी के बारे में फ़ैज़ की प्रतिक्रिया थी कि 'चले चलो कि वो मंजिल अभी नहीं आई.' यदि इसे 'आज़ादी झूठी है' के नारे के समर्थन की कविता के रूप में देखने का प्रयास किया जाए तो यह समस्या खड़ी हो जाती है कि 'आज़ादी झूठी है' का नारा जहां मज़दूरों–किसानों को देशी पूंजीपतियों के पीछे–पीछे चलकर सच्ची आज़ादी पाने की सलाह दे रहा था वहीं फ़ैज़ मज़दूरों–किसानों को ही आगे बढ़कर अपनी आज़ादी का निर्माण करने के लिए तैयार कर रहे थे. 70 का दशक आते–आते इस मंजिल की तलाश अधिक जोर पकड़ लेती है. मोहभंग युवा पीढ़ी की पहचान बनता जा रहा था. युवाओं को 'ऐंग्री यंग मैन' के रूप में पेश करने वाली फिल्मों का सफल होना भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है. लेकिन युवा पीढ़ी का आक्रोश कोई दिशा नहीं पा सका था. इसी दौर में हिंदी साहित्य के भीतर बुर्जुआ विचारधारा के

भीतर से उपजा अकविता का आंदोलन भी पटल पर आता है, जहां दिशाहीन आक्रोश और कुंठा मूल्य के रूप में स्थापित होते दिखायी पड़ते हैं. इसी समय अमरीका के प्रसिद्ध संगीत समूह 'बीटल्स' के गीत 'इमैजिन' में जिस तरह का प्रतिसंसार रचा जाता है, उसमें आवेग अधिक है विचार कम. कुल मिलाकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आवेग और अराजकता सर्वाधिक फैशन में थे. गोरख ने अकविता के अराजकतावादी रुझान के साथ संघर्ष चलाया और इस स्वप्नभंग की विचारधारात्मक विवेचना की शुरुआत की. उन्होंने नए सपने गढ़ने और भयानक दिनों में भी सपनों और उम्मीदों को ज़िंदा बचाए रखने का प्रयास किया. उनके सपने न तो दिवास्वप्न देखने की छूट देते हैं और न ही कल्पनाशीलता के नाम पर काल्पनिक होने की. उनके सपने लहूलुहान स्मृतियों और ठोस स्थितियों से बार–बार टकराते और टूटते हुए निर्मित होते हैं.

हमारी यादों में छटपटाते हैं
कारीगर के कटे हुए हाथ
सच पर कटी जुबानें चीखती हैं हमारी यादों में

.....

यहीं पर
एक बूढ़ा माली
हमारे मृत्युग्रस्त सपनों में
फूल और उम्मीद रख जाता है[1]

सपनों में फूल और उम्मीद रखने के लिए आने वाला यह बूढ़ा कोई मसीहा नहीं जो रात में चुपके से हमारी मदद कर जाता हो. जिस जनता के बारे में यह मान लिया जाता था कि उससे कुछ भी संभव नहीं गोरख उसी जनता को सपनों को बचा सकने वाली सामूहिक शक्ति के रूप में देख रहे थे. 'हे भले आदमियों' शीर्षक कविता में सपनों की आज़ादी के लिए इसी जनता का आह्वान किया जा रहा है, यही जनता ही सपनों में फूल और उम्मीद रख सकती है –

हे भले आदमियों

कब जागोगे

और हथियारों को

बेमतलब बना दोगे ?

हे भले आदमियों

सपने भी सुखी और

आज़ाद होना चाहते हैं [2]

गोरख लोक कथाओं के स्वप्नों में भी अपने समकालीन अर्थ भर देना जानते थे. 'खून की नदी' शीर्षक कविता में बचपन के सपनों में राजा के मरने की बात इसी तरह है जैसे कोई सोचे कि अपने आप ही शोषण और दमन समाप्त हो जाएगा और जैसे ही यथार्थ से टकराए तब एहसास हो कि नहीं सब कुछ वैसा ही है. यह कविता बचकाने सपनों का उत्सव नहीं, सपनों के प्रौढ़ हाते जाने की, स्वप्न से यथार्थ तक की यात्रा है.

बचपन के हमारे सपनों में

कभी कभी राजा मर जाता था

गुलाबों से सजी राजकुमारी की

माली से शादी हो जाती थी

मगर जब हम जागते

तो फिर वही कहानी शुरू हो जाती[3]

स्वप्न और यथार्थ का यह अंतर्विरोध गोरख को अराजक निषेधवाद की तरफ नहीं ले जाता इसीलिए स्वप्नभंग उनके लिए मूल्य नहीं बनता. वे स्वप्न और यथार्थ के बीच के अंतर्विरोध को सकारात्मक प्रतिरोध में बदल देते हैं. राजा के मरने की बात संभव है, राजकुमारी की माली से शादी भी संभव है, ऐसा सपना देखना भी राजसत्ता का प्रतिकार भी है. उसी तरह जैसे दुनिया से परे न्यायपूर्ण स्वर्ग की कल्पना इस अन्यायपूर्ण दुनिया का प्रतिकार है. यह प्रतिकार सपनों से शुरू होकर उन्हें पूरा करने

के लिए होने वाले संघर्ष का भी रूप धरने लगता है. समाज का सबसे उत्पीड़ित तबका सामंती उत्पीड़न के खिलाफ मज़दूरी, जमीन और मर्यादा (dignity) का जो ख्वाब देखना शुरू करता है उसे सामंती दमन के बल पर नष्ट नहीं किया जा सकता. 'जमींदार सोचता है' शीर्षक कविता में धीरे–धीरे प्रतिवाद करना शुरू करते तिलकू के बारे में एक सामंती प्रतिक्रिया को पकड़ने की कोशिश की गई है. जहां ज़मींदार के डंडे उसके ख्वाबों को नहीं मार पाते –

अपने बेटे के लिए पेट काटकर

क़लम–कागज जुटाता है

उसे हाकिम बनाने का ख़्वाब देखता है

अपनी ज़मीन होने के ख़्वाब देखता है

'हालांकि ख्वाबों में भी

उसे डंडे पड़ते हैं

मगर उन्हें देखना नहीं छोड़ता है.[4]

ख्वाबों में भी डंडे पड़ने के बावजूद अपनी ज़मीन होने के ख्वाब देखते रहना, सामंती दमन के बावजूद संघर्ष की जिद और संघर्ष का आगे बढ़ते रहना शोषकों के लिए दुःस्वप्न बन जाता है. लहूलुहान सपने गोरख को ग़ालिब की परंपरा से जोड़ते हैं.

रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं कायल

जो आंख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है [5]

धमनियों में उमड़े हुए 'लहू की धार' का एक प्रतिफलन तो हिंदी कविता में स्त्री देह की खोज में हुआ लेकिन आंखों से टपकता लहू कानपुर में चार बहनों द्वारा आत्महत्या करने के बाद गोरख की कविता में यों अभिव्यक्त हुआ –

एक नश्तर चुभा है ख़्वाबों में

लहू टपकता है निगाहों से [6]

'रकत आंस' जायसी की कविता में रानी को सामान्य किसान स्त्री की भूमि पर उतारता है और गोरख की कविता में घायल स्वप्न और आंखों से टपकने वाला लहू भाव से विचार तक की सहज यात्रा पूरी करके शोषितों के 'इंकलाब के ज्वार' में तब्दील होने लगता है.

ये रगों में दौड़ के थम गया, अब उमड़ने वाला है आंख से,

ये लहू है जुल्म के मारों का या फिर इंकलाब का ज्वार है. [7]

'मल्लाहों का गीत' शीर्षक कविता प्रकृति के सौन्दर्य में सपनों के पंख लगाकर उड़ने की आकांक्षा को व्यक्त करता है. इस गीत की शुरुआत नदी के सतत प्रवाहित होते रहने के रहस्य के प्रति जिज्ञासा के साथ होती है. रात में नदी के सौन्दर्य के विराट बिंब में धरती और आकाश एक दूसरे से गले मिलते से लगते हैं. वहीं जब सपनों के पंख लगाकर उड़ने की बात आती है तभी जीवन का यथार्थ इस पूरे बिंब को तार–तार करता हुआ प्रकट होता है. फ़िराक़ गोरखपुरी की नज़्म 'आधी रात को' में भी इसी तरह रात के सौन्दर्य के वर्णन के बीच यथार्थ रह–रह प्रकट होता रहता है.

सुआ–ए–मेह्र ने यूं इनको चूम–चूम लिया

नदी के बीच कुमुदिनी के फूल खिल उठे

न मुफलिसी हो तो कितनी हसीन है दुनिया [8]

जहां फ़िराक़ के वर्णन में सदिच्छा, और अमूर्तता है. वहीं गोरख का गीत एकदम ठोस स्थितियों का हलफनामा है, नश्तर चुभे ख़्वाबों का कवि परिवेश के पूरे अन्तर्विरोध ा को इस रूप में अभिव्यक्त करता है –

रात में बांके नयन सी चमके

तारों की पायल भंवर में झलके

छप–छप चांदनी नहाए हो सजनी

नीले दरपन में सोना घोले

उस पार किरनों ने पाल खोले

सपना पंख लगाए हो सजनी

काठ की नैया घाट है कच्चा

भूखा खेवैया पतवार सच्चा

मालिक चुंगी उड़ाए हो सजनी [9]

अब 'न मुफलिसी हो तो कितनी हसीन है दुनिया' के अफसोस की तरह गोरख का यह गीत सिर्फ भूखे खेवैया और उसके सच्चे पतवार तक ही नहीं रुकता बल्कि उससे आगे बढ़कर इसके कारणों की जांच करता है और निष्कर्ष है कि मालिक चुंगी उड़ा जाता है जिससे मल्लाह को भूखा रहना पड़ता है.

भूख और उत्पीड़न के खिलाफ गोरख की कविता में दिशाहीन गर्जन–तर्जन की जगह एक व्यवस्थित स्वप्न है. एक दूसरी दुनिया बनाने का स्वप्न. यह स्वप्न अकेले नहीं मोर्चाबंदी करके, अधिक से अधिक शक्तियों को संगठित करके ही बनाया जा सकता है. 'मोर्चे का गीत' शीर्षक गीत इस दूसरी दुनिया की बुनियाद रखने के लिए क्रांतिकारी संभावना वाली अधिकतम सामाजिक शक्तियों का मोर्चा बनाने पर जोर देता है –

रोशनी और फौलाद का मोर्चा

हम बनाएंगे जनवाद का मोर्चा

कर्म से ज्ञान का ज्ञान से मुक्ति का

मुक्ति से सबके संवाद का मोर्चा

एक दुनिया नई हैं जो गढ़ने चले

ऐसे सपनों की बुनियाद का मोर्चा [10]

कर्म और ज्ञान से प्राप्त होने वाली यह 'मुक्ति' एकांत साधना से मिलने वाली मुक्ति नहीं है और न ही अपनी 'आत्म' की मुक्ति है. मुक्ति की यह अवधारणा ऐसी है

जिसमें मुक्ति से सभी का संवाद हो. यह मुक्ति पूरे समाज की मुक्ति है, अन्याय और पिछड़ी हुयी चेतना से मुक्ति है. मुक्तिबोध के समय में मुक्ति की अवधारणा 'व्यक्ति की मुक्ति' बनाम 'समूह की मुक्ति' के रूप में थी. व्यक्ति और समाज को या तो एक दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जा रहा था, अधिक से अधिक पूरे व्यक्विवादी अहं को तुष्ट करते हुए एक प्रकार का समन्वय सिद्धांत दिया जा रहा था जहां 'स्थिर समर्पण' (अज्ञेय) को मूल्य के रूप में स्थापित किया गया. मुक्तिबोध ने व्यक्तिवादी अहंवाद के खिलाफ अपना पक्ष बहुत मजबूती से रखते हुए लिखा था कि

अपनी मुक्ति के रास्ते

अकेले में नहीं मिलते [11]

गोरख की कविता मुक्तिबोध के द्वारा तय किए गए रास्ते पर विकसित होती है. इसीलिए उनकी कविता में व्यक्ति और समूह की मुक्ति का द्वंद्व नहीं है बल्कि मुक्ति से सबके संवाद को संभव कर सकने के लिए आवश्यक शक्ति जुटाने के लिए समाज के विभिन्न हिस्सों की मोर्चाबंदी पर जोर देती है. कविता राजनीति के आगे चलने वाली मशाल बनती हुयी दिखाई पड़ती है.

'सपना' शीर्षक कविता एक मजदूर स्त्री के स्वप्न की कविता है. ऐसा समाज जहां वंचित तबकों के स्वप्न तक पर दूसरों का आतंक है उसी समाज में मज़दूर स्त्री इस तरह का स्वप्न देखने की हिमाक़त कर रही है. यह कविता सर्वहारा के नेतृत्व में आने वाले समाजवाद की रूपरेखा के रूप में भी देखी जा सकती है, जिसमें एक तरफ सामंतवाद की धौंस–धमकी और उसके आतंक को नष्ट करने की इच्छा है वहीं दूसरी ओर पूंजी के साम्राज्य को भी समाप्त करने का स्वप्न है –

सूतल रहलीं सपन एक देखलीं, सपन मनभावन हो सखिया

फूटलि किरिनिया पुरुब असमनवा, उजर घर आंगन हो सखिया

अंखिया के नीरवा भइल खेत सोनवा, त खेत भइलें आपन हो सखिया

गोसयां के लठिया मुरइया अस तूरलीं, भगवलीं महाजन हो सखिया

केहू नाहीं ऊंच नीच केहू के ना भय, नहीं केहू बा भयावन हो सखिया

मेहनति माटी चारों ओर चमकवली, ढहल इनरासन हो सखिया

बइरी पइसवा के रजवा मेटवलीं, मिलल मोर साजन हो सखिया[12]

अपने खेत होना, महाजन और जमींदार को मार भगाने, समाजिक सम्मान और बराबरी की आकांक्षा, सामंती आतंक को समाप्त करने, शोषणतंत्र के इंद्रासन को मेहनत से ध्वस्त कर देने से होता हुआ यह स्वप्न पूंजी के साम्राज्य को समाप्त करने तक जाता है. दूसरे शब्दों में कहें तो यह कविता सामंती शक्तियों और पूंजी के साम्राज्य के ध्वंशावशेषों पर खड़े होकर नए समाज की रचना की कविता है. गोरख की कविता में महिलाएं पूरी शक्ति के साथ इस तरह के क्रांतिकारी स्वप्न देखने वाली हैं. वे ऐसे योद्धा के रूप में आती हैं जिनके प्रयासों से शोषण और दमन का इन्द्रासन ढह सकता है.

इस कविता की अंतिम पंक्तियां 'मिलल मोरा साजन हो सखिया' मीरा की पंक्ति 'सूली ऊपर सेज पिया की कहि विधि मिलना होय', का जवाब लगती है. बैरी पैसे का साम्राज्य मिटाने के साथ ही साजन से मिलना संभव है. यह 'साजन' कौन है ? जिससे मिलने की आकांक्षा एक विद्रोही स्त्री 400 पहले व्यक्त करती है और जिससे मिलने का रास्ता एक क्रांतिकारी कवि 1979 में बताता है ? यह 'साजन' 'आज़ादी' या 'मुक्ति' के अलावा और कौन हो सकता है. समाज के सबसे उत्पीड़ित तबके, स्त्री की मुक्ति का रास्ता सारे समाज की मुक्ति के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है. सदियों की पराधीनता से मुक्ति का स्वप्न गोरख की कविताओं ही नहीं लेखों में भी चलता रहता है. 'सुख के बारे में' विचार करते हुए गोरख ने लिखा है कि "सुखी कौन है ? यक्ष ने युधिष्ठिर से जो चार प्रश्न किए थे, उनमें से एक यह भी था. मुझे लगता है युधिष्ठिर ने सबसे बढ़िया उत्तर भी इसी प्रश्न का दिया था. उन्होंने कहा था – 'जो दिन के अंतिम भाग में अपने घर साग पका लेता है, और जो कर्जदार और प्रवासी नहीं होता, वही सुखी है' यानी, जो स्वतंत्र है वही सुखी है."[13] गोरख की कविताओं में सपनों की मंजिल यही स्वतंत्रता है, जो सुख का आधार है. –

आज़ादी तुम जीवन का सारा प्यार हो

सपनों की मंजिल हो सुख का आधार हो [14]

स्वतंत्रता और सुख के उत्पादकों और उस पर कब्जा करने वालों के बीच का अन्तर्विरोध गोरख की कविताओं में लगातार मौजूद रहने वाला तत्व है.

बुनते रहे हम सपने हमेशा दर्द में नंगे होते गए

चादर लंबी होती गई है पांव सिमटता जाए है.[15]

इस ग़ज़ल में मजदूर वर्ग द्वारा लगातार दूसरों के लिए स्वर्ग की रचना करते रहने लेकिन स्वयं नरक में जीने के लिए बाध्य रहने का अंतर्विरोध तो है ही साथ ही लोक में प्रचलित मुहावरे 'तेते पांव पसारिए जितनी लंबी सौर' को उलट दिया गया है. यह उलटफेर रूपगत चमत्कार की जगह एक नए यथार्थ को सामने लाती है जब इस नए मुहावरे के अनुरूप इसकी व्याख्या की जाती है. जहां लोक प्रचलित मुहावरे में यह हिदायत दी गई है कि उपलब्धता के अनुरूप ही आवश्यकता को बढ़ाया जाना चाहिए. लेकिन यह तथ्य है कि आज़ादी के इतने वर्षों बाद खाद्यान्न उत्पादन में कई गुना वृद्धि हो गई है लेकिन प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न की खपत लगभग एक तिहाई रह गई है. भुखमरी से मौतें हो रही हैं और एफ.सी.आई. के गोदाम भरे हुए हैं. तब इस स्थिति का सटीक चित्रण यह है कि 'चादर लंबी होती गई है पांव सिमटता जाए है'. यह चादर वही है जो दूसरों के सपनों का महल खड़ा करने के लिए अपने को नंगा रखने की मजबूरी के साथ बुनी गई है. जिस वर्ग ने इस चादर को लंबी करने के लिए और मजदूरों के पैर को समेट देने के लिए भयानक दमन ढाया है उसके साथ एक नए संघर्ष का आहवान इसी ग़ज़ल में है –

फन काढ़े बैठा है खजानों पर इससे हमें लड़ना होगा

जिस्म बचाने पीछे हटो तो जां से लिपटता जाए है [16]

'बूढ़े घंटाघर के पास' कविता में कोमल स्वप्नों को बचाने और कातिल स्वप्नों को समाप्त करने के लिए आहवान किया गया है. इस कविता का टोन कबीर के टोन से जाकर मिल जाता है जहां कबीर सरे बाजार खड़े होकर तस्कर के आने और सबकुछ

लूट कर ले जाने की घटना से लोगों को सावधान कर रहे थे –

तेरा हथियार तुम्हारे ही हाथों से

तुमको सदियों से मार रहा है लोगो !

बेघर मेहनत के कितने ही रतन छिपाकर

है काला नाग दे रहा उसमें पहरा

कितने सपनों की कोमलता को डसकर

उसमें पलता कातिल का स्वप्न सुनहरा

.....

अब धुंआ दे रही झोपड़ियों के मन से

विप्लव का कंठ पुकार रहा है लोगों ! [17]

गांवों में सामंत, जमींदार आए दिन गरीबों द्वारा थोड़ा भी प्रतिकार करने पर उनकी झोपड़ियों में आग लगा देते हैं. 'धुंआ दे रही झोपड़ियों' से 'विप्लव का कंठ' फूट पड़ने का सीधा आर्थ है कि दमन के द्वारा अब उत्पीड़ितों के संघर्ष को नहीं दबाया जा सकता.

गोरख के पहले मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में स्वप्न चित्रों के माध्यम से यथार्थ के अनगिनत उलझाओं को अभिव्यक्त किया था. गोरख के यहां 'सपना' तो देखने वाले की लय और उनकी भाषा में ही आता है लेकिन 'दुःस्वप्न' यथार्थ के तमाम उलझाओं के साथ खड़ी बोली में अभिव्यक्त होता है –

हवा में इस्पाती आदेश –फैलता है बाहर निकलना जुर्म है

देखते ही गोली मार दी जायेगी

अलग– थलग कमरों में गिरफ्तार

जिन्दगी पर

कत्ल चल रहा है

शहर की लाश पर ढल रहा है

कोहरे का कफन

नदी टुटती है

भग्न प्राय पुल के बायें

ठहरा पड़ा है आन्दोलित जुलूस

और दायें

संगीनों के सांयें में

साया हो रहा है

नाग नाथ और सांप नाथ के बीच चुनाव

विरोधी आवाजों का एक बे सिलसला

उलझा हुआ संसार

आहिस्ता – आहिस्ता

खो रहा है [18]

गोरख क्रांतिकारी राजनीतिक चेतना से लैस रचनाकार थे. उनके काव्य में आने वाले स्वप्न उनकी राजनीतिक चेतना के वाहक थे, आम लोगों के सपनों में 'फूल और उम्मीद' रख देने की कोशिश में लगे हुए. गोरख ने अपने समकालीन कवि पाश (सबसे खतरनाक होता है हमारे सपनों का मर जाना) की ही तरह सपनों को जिंदा रखने की कोशिश की क्योंकि उनको मालूम था कि सपने जिंदा रहेंगे तो संघर्ष भी जिंदा रहेंगे. गोरख ने अपनी एक ग़ज़ल में एक जगह से शुरू करके पूरी व्यवस्था के परिवर्तन के स्वप्न को अभिव्यक्त किया. इस ग़ज़ल में अपने सपनों का संसार निर्मित करने के लिए हाथ वालों को दस्तक देने का आहवान किया गया है –

वे तार बदलो न जिनके सुर में, नए जुनूं का सबब बयां हो,

रहा न हो काम का साज़ भी ये, तो फिर मुकम्मल ही इब्तिदा हो,

.....

अभी तो अपना हो ठौर कोई, अभी तो अपना हो ख्वाब कोई,

ज़रा सा सोचो कि कैसा हो गर, तुम्हारे ख्वाबों का ऐ जहां हो

हवाएं पूरब से चल पड़ी हैं क़फस की चूलें हिली हुई हैं

ये वक़्त तो दस्तक देने का है, ऐ हाथ वालों! थमे कहां हो ? [19]

हमरे जंगरवा से धरती फुलाइल

श्रम संस्कृति के निर्माण में केन्द्रीय भूमिका अदा करता है. " प्रकृति का संस्कार करने और संस्कृति का निर्माण करने का प्रथम स्रोत सामूहिक श्रम है. सामूहिक शारीरिक श्रम ने भौतिक पदार्थ का रूप बदल कर भौतिक उत्पादन के जरिए, मनुष्य के बाहर और भीतर की प्रकृति को बदल दिया है, उसे प्रकृति में एक विशिष्ट सत्ता के रूप में, संस्कारित सत्ता के रूप में, स्थापित किया है.''[20] इस तरह गोरख ने श्रम को सृजन की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है. श्रम की सृजनशील और उत्पादक भूमिका, श्रम का शोषण, श्रमिकों की जीवन –स्थितियां व उनका शोषकों के साथ विरोध तथा शोषण के खिलाफ विकसित होते श्रमिकों के आंदोलन गोरख के रचना संसार में सर्वाधिक स्थान पाते हैं. मनुष्य के विकास में श्रम की भूमिका की चर्चा करते हुए एंगेल्स ने लिखा कि "Labour is the source of all wealth, the political economist say. It is this - next to nature which supplies it with the material that it converts into wealth. It is the prime basic condition for all human existance, and this to such an extent that, in a sense, we have to say that labour created man himself." [21] मनुष्य बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका को देखते हुए कहा जा सकता है कि मनुष्य श्रम की पैदावार है. जैसे–जैसे मानव समाज का विकास हुआ और

कृषि का काम शुरु हुआ, अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता की पूर्ति के लिए युद्ध शुरू हुए, समाज वर्ग विभाजित हुआ और शुरू हुयी दास प्रथा. वर्ग विभाजन के साथ ही श्रम के शोषण की शुरुआत हुयी. दास, मज़दूर और मालिक की अवधारणा निर्मित हुयी.

यह तकनीकी विकास की काफी निम्न अवस्था थी. अभी श्रम करने वाले छोटे समूहों में उत्पादन कर रहे थे और आवश्यकतानुसार वही प्रबंधन और वितरण तक का काम करते थे. यहां श्रम और उसके द्वारा निर्मित उत्पाद के बीच की खाईं उतनी बड़ी नहीं हुई थी जितनी कि आज है. 'औद्योगिक क्रांति' ने सभ्यता के इस विकास को अचानक ही तीव्र गति दे दी. तकनीकी विकास ने उत्पादन को कई गुना बढ़ा दिया. अब मज़दूर पूरा उत्पाद बनाने की जगह उसका कोई एक भाग निर्मित करने में लगा हुआ था. अपने श्रम द्वारा पैदा हुए उत्पाद के साथ अब एक अलगाव आ गया था. तकनीकी विकास के जरिए मानवीय श्रम के शोषण में कमी नहीं आयी. यह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक क्रूर और सुनियोजित हो गया. 'वैयक्तिकता' को औद्योगिक समाज के मूल्य के रूप में स्थापित किया गया, जो अवधारणा के स्तर पर सबके लिए 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' की पैरोकार थी. लेकिन वास्तव में 'व्यक्तिगत स्वातंत्रता' वर्ग विशेष के लिए ही आरक्षित हो गई. मज़दूरों को यह हासिल न हो सकी. उन्हें तो कई बार मनुष्य का दर्जा देने से भी मना कर दिया गया. कई बडे कार्पोरेशनों को मनुष्य का दर्जा प्राप्त था उनके तमाम कानूनी और मानवाधिकार होते थे जबकि हाड़–मांस के जीवित मनुष्यों (मज़दूरों) के पास कोई अधिकार न था. इसी बात को लक्ष्य करते हुए कार्ल मार्क्स ने लिखा कि – 'Capital is independent and has individuality, while the living person is dependent and has no individuality.' [22] एक साथ बड़ी संख्या में काम करने और उन्नत किस्म की मशीनों के उपयोग के चलते मज़दूरों में नई चेतना का विकास भी शुरू हुआ.

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया बहुत दिनों तक शुरू ही नहीं हो सकी. औपनिवेशिक शासन ने इस देश को कच्चे माल की मंडी के रूप में ही लंबे समय तक रखा. लेकिन औद्योगीकरण पूंजीवाद के विकास की अनिवार्य शर्त थी. औद्योगीकरण की जितनी भी नियंत्रित और छोटी प्रक्रिया ब्रिटिश–राज में संभव हो सकी उसने भी

मज़दूरों में नई चेतना विकसित करने में बड़ी भूमिका अदा की. ब्रिटिश विरोधी आंदोलन के दौरान तमाम औद्योगिक मज़दूरों की हड़ताल इसी विकसित होती आधुनिक चेतना का परिणाम थी.

प्राचीन ब्राह्मणवादी सामंती विचारधारा ने श्रमिकों को समाज के निचले पायदान पर रखा. उन्हें जानवरों के समकक्ष माना गया. दूसरी तरफ भारतीय रूप रंग के पूंजीवाद में भी श्रमिक ही सर्वाधिक शोषित हैं. अ–श्रम पर आधारित सौन्दर्यशास्त्र; वैचारिकी और जीवनदृष्टि का प्रत्याख्यान गोरख की कविता की मुख्य शक्ति है. गोरख श्रम और उसके फल पर कब्जे के सवाल को लगातार कविता की विषयवस्तु बनाते हैं. श्रमिकों और उत्पादन के साधनों पर कब्जा रखने वाले वर्ग के बीच संघर्ष को तेज करना, श्रम को शोषण से मुक्त कराना उनकी कविता का लक्ष्य है. 'मेहनतकशों का गीत' में वे न केवल श्रम और उसके फल के अन्तर्विरोध को सहजता से स्पष्ट करते हैं बल्कि जनता की प्रश्नाकुल चेतना को स्वर देते हैं–

किसकी मेहनत और मशक्कत / किसके मीठे–मीठे फल हैं ?

अपनी मेहनत और मशक्कत / उनके मीठे–मीठे फल हैं

आज़ादी हमने पैदा की / क्यों गुलाम हम, क्यों निर्बल हैं ? [23]

नक्सलबाड़ी आंदोलन ने हिंदी कविता के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी श्रम को केन्द्रीय मूल्य के रूप में स्थापित किया. तेलुगू के कवि चेराबण्डा राजू ने श्रमिकों और शोषकों के बीच के असमाधेय अंतर्विरोध को यों व्यक्त किया –

पर्वतों को तोड़ कर पत्थरों को फोड़ कर

बनायी योजनाएं ईंट लहू से जोड़ कर

श्रम किसका है ?

धन किसका है ? [24]

श्रम गोरख के यहां मानव बनने के मूल्य की तरह आता है, श्रम सूरज है, श्रम प्रेम है, श्रम प्रतिरोध है. –

तूं हव श्रम के सुरुजुवा हो हम किरनिया तोहार

.....

हमरा के छोड़िके न जइह बिदेसवा

जइह त भूलिह न भेजल सनेसवा

तूं हव नेहिया के पतिया हो, हम अछरिया तोहार [25]

मध्यकाल में काव्यरूढ़ि के बतौर प्रयुक्त किया जाने वाला 'बारहमासा' गोरख के रचना संसार में एकदम अलग अंन्तर्वस्तु के साथ संवाद की शैली में प्रकट होता है. इस 'बाहरमासा' में न तो कोई राजकुमार या राजा है और न ही उसके वियोग में तड़पती कोई रानी है. 'बारहमासा' गोरख के यहां श्रम के विभिन्न रूपों में शोषण और इस शोषण के खिलाफ संघर्ष के आहवान के बतौर आता है. बारह महीनों का वर्णन यहां भी है लेकिन मेहनतकश तबके के लिए मौसम और शोषण मिलकर दुखों का एक अंतहीन सिलसिला बनाते हैं. पति की अनुपस्थिति दुःख में साझीदार होने और सांत्वना देने वाले के अभाव के रूप में आती है. मौसम और शोषण की मार मेहनतकश पुरुषों पर भी उसी तरह पड़ती है. श्रमिकों के अनवरत शोषण की ऐतिहासिकता को अधिक मूर्त बना सकने के लिए ही शायद गोरख ने 'बारहमासा' के प्राचीन रूप का इस्तेमाल किया हो.

'मेहनत का बारहमासा' की शुरुआत ही मज़दूर स्त्री द्वारा अपने बच्चे के इलाज के अभाव में बुखार से मर जाने की सूचना के साथ होती है. अपने श्रम से सामंतों–पूंजीपतियों के लिए सुख–सुविधा जुटाने वाला मज़दूर उन्हीं के दमन का शिकार होता है.

हमरी मेहनत से रेल अउरी तार सजनी

हमरी मेहनत से रूप आ सिंगार सजनी

हमरी मेहनत से प्यार आ विचार सजनी

हम रोकि देई हर आ कुदार सजनी

रुकि जिनगी के सुरसरिधार सजनी [26]

यह सामान्य श्रमिक की चेतना नहीं है. यह चेतना खेत–मज़दूर की नहीं औद्योगिक सर्वहारा की है जो भौतिक उत्पादन के साधनों के साथ–साथ बौद्धिक उत्पादन के साधनों, विचारों के उत्पादन पर भी अपना हक़ जता रहा है. जिस वर्ग का भौतिक उत्पादन के साधनों पर कब्जा रहता है वही वर्ग बौद्धिक उत्पादन के साधनों पर भी कब्जा कर लेता है. मार्क्स–एंगेल्स ने लिखा था कि "The class which has the means of material production at its disposal has control at the same time over the means of mental production, so that thereby, generally speaking, the ideas of those who lack the means of mental production are subject to it." [27]

इस देश की परिस्थितियों में बगैर ग्रामीण सर्वहारा को संगठित किए, शोषण के खिलाफ संघर्ष संभव नहीं है. चेतना के स्तर पर ग्रामीण गरीब अभी तक किसी क्रांतिकारी विचारधारा से लैस नहीं हैं, उनका शोषण बढ़ते जाने और सामंतों के साथ अंतर्विरोधों के तीखे होते जाने की प्रक्रिया जारी है. गांवों में गरीब अपनी मर्जी के अपना श्रम बेंचने के लिए भी स्वतंत्र नहीं हैं और सामंती आदेशों की अवज्ञा सीधे शारीरिक–मानसिक–आर्थिक–लैंगिक उत्पीड़न को आमंत्रण होती है.

ओपर आइल फुसलावे जमींदार सजना

ओकर बोलिया करेजा में कटार सजना

नाहीं छीने गइलीं ओकरे घरे नार सजना

गारी देत आइल 'बुजरी, छिनार' सजना

दू ठो गुंडा बोलवा के लठमार सजना

ढाहि दिहलिस माटी के दिवार सजना [28]

भारतीय परिस्थितियों में जातियां अविभेदीकृत वर्ग हैं. इन्हीं अर्थों में वर्ग और जाति गोरख के सामने एकीकृत प्रश्न के रूप में आते हैं. इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने वर्ग या जाति में से किसी प्रश्न को गौण स्थान दिया बल्कि उनकी कविताओं

में वर्ग और जाति की चेतना अविभाज्य है. जिसे वर्ग के रूप में ग्रामीण सर्वहारा कहा जाता है, सामाजिक रूप से उसका अधिकांश हिस्सा दलित है. इसीलिए दलितों की सामाजिक मर्यादा की लड़ाई भोजपुर के किसान आंदोलन का एक केन्द्रीय मुद्दा रहा है. 'मेहनत का बारहमासा' में खेत मज़दूर और उसके दलित होने के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं है. भारतीय संदर्भों की इस सच्चाई को गोरख एक पंक्ति में उजागर कर देते हैं 'नाहीं छीने गइलीं ओकरे घरे नार सजना'. सवर्णों के घर पर बच्चा पैदा होने के समय 'चमाइन' ही ज़चगी कराती है और बच्चे की नाल काटती है. ऐसा करने से इन्कार कर देना सामंती धाक को खुली चुनौती बन जाती है, और शुरू हो जाता है दमन का सिलसिला.

स्मिथ, रिकार्डो आदि ने बताया कि लोगों का जीवन बाजार द्वारा उनके शोषण पर निर्भर है. लेकिन बाजार अपने आप में और कुछ नहीं लोगों के श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की अंतःक्रिया है. दूसरे शब्दों में कहें कि लोग अपनी ही अतीत की गतिविधियों के गुलाम हो गए है. फायरबाख ने इसे ही दूसरे रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा था कि लोग अपने ही द्वारा निर्मित ईश्वर की पूजा करते हैं. यह अपनी ही रचना से उनका 'अलगाव' (Alienation) है. मार्क्स ने 'अलगाव' शब्द फायरबाख से लिया और उसे पूंजीवादी बाजार के ऊपर लागू किया. उन्होंने लिखा कि "The object that labour produces, its product, confronts it as an alien power, independent of the producer. The product of labour is labour that has solidified itself into an object, made itself into a thing, the objectification of the labour... In political economy this realisation of labour appears as a loss of reality for the worker, objectification as a loss of the object or enslavement to it...

The more the worker produces, the less he has to consume. The more values he creates, the more valueless, the more unworthy he becomes...[The system] produces intelligence, but for the worker, stupidity...It is true that labour pro-

duces wonderful things for the rich, but for the worker, privation. It produces palaces - but for the worker, hovels. It produces beauty - but for the worker, deformity... The worker only feels himself outside his work, and in his work feels outside himself. He feels at home when he is not working, when he is working he does not feel at home" [29]

उत्पाद से मज़दूर के अलगाव की प्रक्रिया के साथ–साथ विशिष्ट किस्म के श्रम विभाजन ने जातियों को जन्म दिया. यह इस देश की अपनी विशिष्ट परिस्थिति की उपज है. जहां बौद्धिक संपदा का उत्पादन करने के बावजूद मज़दूर 'गंवार' है. गोरख कृषि समाज के श्रम–विभाजित होने के साथ–साथ जातियों में विभाजित होने की ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझाते हुए लिखा कि –

उनके जूता सी के भइलीं हम चमार सजनी

उनके डोली ढो के हो गइली कहार सजनी

तेल पेरलीं उनके चमकल कपार सजनी

हम मइल भइलीं तेली कलवार सजनी

गाड़ी गढ़लीं गढ़लीं खुरपा कुदार सजनी

हम कहल गइलीं बढ़ई–लोहार सजनी

जाति–पांति के उठवलें दिवार सजनी

बाटि दिहलें किसान परिवार सजनी

हम खटि–खटि हो गइलीं गंवार सजनी

ऊ अराम कइलें भइलें हुसियार सजनी [30]

जायसी ने 'नागमती वियोग खंड' के बारहमासा में नागमती को एक किसान स्त्री की तरह चित्रित किया है, रानी की तरह नहीं. जिसकी चिंता में खेती करने और बरसात

के ठीक पहले छप्पर की मरम्मत न हो पाना शामिल है. 'मेहनत का बारहमासा' मज़दूर स्त्री के शोषण का दस्तावेज बनकर आता है, जिसमें बारहों महीने शोषण और दमन के नए–नए रूप लेकर आते हैं. 'मेहनत का बरहमासा' भी असाढ़ में शुरू होता है लेकिन नए यथार्थ के साथ

मेघ ओनवे असाढ़ कजरार सजना

हर–बैल लेके चलल जवार सजना

धान रोपे गइली धनिया तोहार सजना

लेकिन घर में अकाल के पसार सजना

.....

नियराइल गवें–गवें जब कुआर सजना

फसल काटे गइलीं दुखवा बिसार सजना

उनके भरि दिहलीं सोना से बखार सजना

अपने घरे आइल बोझा दुइ चार सजना

.....

मास अगहन आसा पर तुसार सजना

तन लुगरी भइल तार–तार सजना

पूस माघ में उपास के अधार सजना

चुभे हाड़ निरमोहिया बयार सजना [31]

इस तरह बारह महीने भुखमरी, सामंती उत्पीड़न और इस सबके साथ अनवरत शारीरिक श्रम के महीने के रूप में गुजरते हैं. जिसमें हर मौसम की फसल के कुछ दिन बाद ही 'फिर से' भूखे रहने की नौबत आती ही रहती है.

आज़ादी के बाद शहरों में फल–फूल रहा देशी पूंजीपतियों का तबका सुख–सुविध

ा और आज़ादी के नारे के साथ मजदूरों के श्रम के शोषण और दमन के हर संभव औजार का इस्तेमाल करने से नहीं हिचकता और उसका बड़े नेताओं के साथ गठजोड़ है. लेकिन साथ ही यह भी सच है कि पूंजीवाद अपने को नष्ट करने वाले सर्वहारा को खुद ही अपने विकास के लिए पैदा करता है. मार्क्स ने इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा कि – 'What the bourgeoisie therefore produces, above all, are its own gravediggers'. [32] पूंजीपति तबके का चरित्र पर–निर्भर और दलाल का है जो संस्कृति के नाम पर भौंड़ेपन को नए–नए तरीकों से प्रचारित करता है. गोरख पूंजीपति तबके और सरकार के चरित्र में समानता दिखाते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि सरकार व्यक्तियों पार्टियों की अपेक्षा वर्गों की होती है और किसी भी वर्ग की सरकार अपने वर्गचरित्र से भिन्न नहीं होती. पतनशील सामंती–पूंजीवादी गठजोड़ की सरकार अपनी पतनशील संस्कृति को ही सर्वाधिक उत्कृष्ट मानकर प्रचारित करती है–

करें नाचे के अजादी के प्रचार सजनी

जइसे नाचे आजुकालि सरकार सजनी

कब्बो रूस आगे अंचरा पसार सजनी

कब्बो चले अमरीका के बजार सजनी [33]

मज़दूरों के सचेत होने की प्रक्रिया धीरे–धीरे आगे बढ़ने लगती है, वे अपने हक़ के लिए संघर्ष करने लगते हैं. नक्सलबाड़ी आंदोलन की धमक शहरों में कारखानों के मज़दूरों के भीतर भी शोषण से मुक्ति की लड़ाई शुरू करने की प्रेरणा के रूप में सुनाई देती है –

जब लोग भइलें बहुते लाचार सजनी

सुरू कइलें लड़ाई छापामार सजनी

एकरो बाटे कलकत्ता में प्रचार सजनी [34]

नक्सलबाड़ी आंदोलन ने न केवल मज़दूरों के बीच अपनी मुक्ति की आकांक्षा को

प्रबल किया बल्कि अपने दुश्मन वर्ग के वर्ग–चरित्र और राज्य के दमनकारी चरित्र के बारे में भी एक मार्क्सवादी समझदारी विकसित की. जब मिश्रित अर्थव्यवस्था के दौर में शासक वर्ग के पास 'समाजवाद' का नारा भी था तब राज्य के दमनकारी चरित्र का पर्दाफाश करना शायद अधिक मुश्किल रहा होगा. लेकिन गोरख बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं –

ई दलाल पूंजीपति जमींदार सजनी

फउजि, कोरट–कचहरी सरकार सजनी

हमें लूटे बदे कइलें तइयार सजनी

इनसे निपट के एके रस्ता – मार सजनी [35]

यह संघर्ष ऐसे ही बगैर किसी विचारधारात्मक दिशा के नहीं चल सकता था. एक व्यवस्थित क्रांति, जो समतामूलक समाज निर्मित कर सकती है, जिसमें श्रम और उसके पूरे फल पर श्रमिक का हक हो, के लिए तैयारी मार्क्सवाद की क्रांतिकारी विचारधारा के तहत ही संभव है.

अब गांव–गांव हो जा तइयार सजना

गांठि बान्ह लेनिन माओ के विचार सजनी

बिना क्रांति के न होई उधियार सजनी [36]

मार्क्स ने लिखा था "Economic conditions had in the first place transformed the mass of the people into workers. The domination of capital created the common situation and common interests of this class. Thus this mass is already a class in relation to capital, but not yet a class for it self. In the struggle, of which we have indicated a few phases, this mass unites and forms itself into a class for itself. The interests which it defends become class interests." [37] 'मेहनत का बरहमासा'

एक वर्ग के द्वारा लगातार उत्पीड़न झेलते जाने से शुरू होकर अपने वर्ग हितों के लिए संघर्ष करने तक की यात्रा है. शास्त्रीय मार्क्सवादी शब्दावली में कहें तो यह Class in itself से Class for itself में परिवर्तन की प्रक्रिया है. इसीलिए कविता की शुरुआत में जहां मज़दूर स्त्री अपने दुखों को लेकर रो रही है और अपने दुःख के लिए भाग्य को दोषी ठहरा रही है वही स्त्री कविता के अंत में गांव–गांव से प्रतिरोध खड़ा करने की बात कह रही है.

ई गरीबी, मेहनत अत्याचार सजना

विधि लिखि दिहलें हमरे लिलार सजना

से जो स्त्री शुरुआत करती है वही कविता के अंत तक आते–आते कहती है कि

अब गांव–गांव हो जा तइयार सजना.....

बिना क्रांति के न होई उधियार सजना [38]

'मेहनत का बारहमासा' खेतिहर मज़दूर और औद्योगिक सर्वहारा का वर्ग सचेत होकर अपने वर्ग हितों की रक्षा के लिए एकजुट होने और संघर्ष करने के मार्क्सवादी सिद्धांत का लोकप्रिय भाष्य है.

मज़दूरों की गोलबंदी और अपने वर्ग हितों के लिए संघर्ष शासक को किसी भी कीमत पर स्वीकार्य नहीं है. जैसे भी संभव हो इसे रोकने के लिए प्रतिबद्ध है, कितना ही भयानक दमन क्यों न ढाना पड़े. गोरख की कविता 'उसको फांसी दे दो' शासक वर्ग की सत्ता द्वारा मज़दूरों के संघर्ष ही नहीं उनकी संघर्षशील चेतना तक के दमन का दस्तावेज है –

वह कहता है उसे हमेशा काम चाहिए

सिर्फ़ काम ही नहीं, काम का फल भी चाहिए

काम और फल पर बेरोक दखल भी चाहिए

उसको फांसी दे दो ![39]

'स्वर्ग से बिदाई' शीर्षक कविता 'ड्रामेटिक मोनोलॉग' शैली में लिखी गई है, जिसमें एक ही व्यक्ति के द्वारा सारी बातें कही जाती हैं. 'स्वर्ग से बिदाई' में आलीशान घर बनाने वाले मज़दूरों के साथ मालिकों द्वारा किए जाने वाले बर्ताव को मालिक की ही भाषा में ही उकेरा गया है. इस कविता की विशिष्टता यह है कि सामान्यतया घर बनाने के बाद मज़दूरों की व्यक्त न होने वाली आकांक्षा यहां व्यक्त हो गई है. यह मालिक को किसी एक व्यक्ति के स्तर से हटाकर उसे अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करती है और मज़दूर हैं कि सदियों से चली आ रही व्यवस्था को उलट देना चाहते हैं. जबकि मालिक हमेशा से यही चाहते रहे हैं कि जो जैसा है वैसा बना रहे. अपने श्रम की पैदावार से मज़दूरों के इस अलगाव की प्रक्रिया को मार्क्स ने व्यक्त करते हुए लिखा था कि – "It is true that labour produces wonderful things for the rich, but for the worker, privation. It produces palaces - but for the worker, hovels. It produces beauty - but for the worker, deformity..." [40]

'स्वर्ग से बिदाई' में ग़ोरख मालिक की ही भाषा में उसकी प्रतिक्रिया को इस तरह रखते हैं कि श्रम का शोषण एक वर्ग का दर्शन बन जाता है –

याद रखिए

मालिक मालिक होता है

मज़दूर मज़दूर

आपको काम करना है

हमें उसका फल भोगना है

आपको स्वर्ग बनाना है

हमें उसमें विहार करना है [41]

यह दर्शन सामाजिक यथास्थिति को बनाए रखने का दर्शन होता है. यथास्थिति को बनाए रखने के लिए उनके पास कई तर्क और हथियार हैं, जिनमें से प्रमुख है धर्म

का हथियार. धर्म को हमेशा से शासकों द्वारा गरीबों को दबाए रखने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया है. जब भी गरीब अपनी बदहाली से तंग आकर सिर उठाना शुरू करें तो उन्हें धर्म के डंडे से धमका दिया जाता रहा है. गोरख ने लिखा "स्वर्ग की कल्पना का भौतिक आधार वह संपदा ही थी, जिसे शोषक वर्ग ने ताकत के बल पर जनता से छीन लिया था, ऐसी हालत में आम जनता की सुख की कल्पना तभी साकार हो पाती, जब संगठित होकर वह शासक–वर्ग से अपनी तमाम सम्पदा, अपना सारा स्वर्ग छीन कर वापस ले लेता." [42] इसीलिए उन्हें बताया जाता रहा कि इस जन्म में तुम्हारी बदहाली के कारण तुम्हारे शोषक नहीं तुम्हारे पिछले जन्मों के कर्म हैं –

अगर ऐसा सोचते हैं

कि आपको काम का

पूरा फल मिलना चाहिए

तो हो सकता है

कि पिछले जन्मों के आपके काम

अभावों के नरक में

ले जा रहे हों

विश्वास कीजिए

धर्म के सिवा कोई रास्ता नहीं [43]

मालिकों का यह वर्ग अपने दमन को भी शान्ति स्थापना का प्रयास बताता है जबकि मज़दूरों द्वारा अपने हक़ के लिए संघर्ष कानून–व्यवस्था पर हमला है, 'दुनिया को उलट पलट देने का सबसे बुनियादी अपराध' है. सुख–सुविधा चाहने वाला शोषकों का यह तबका अपने इन जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए एक पूरी व्यवस्था, पूरा राज्य रखता है, जिसका काम ही है जनसंघर्षों का दमन –

हालांकि हम खून खराबा नहीं चाहते

हम अमन चैन

सुख सुविधा पसंद करते हैं

लेकिन आप मज़बूर करेंगे तो हमें कानून का सहारा लेना पड़ेगा

पुलिस और जरूरत पड़ी तो

फौज बुलानी होगी

हम कुचल देंगे

अपने हाथों गढ़े

इस स्वर्ग में रहने की

आपकी इच्छा भी कुचल देंगे [44]

सुख–सुविधा और आज़ादी के बारे में शहर की सीधी सादी ज़िद, जो हर किसी के लिए अलग–अलग मायने रखती है, को कवि केदारनाथ सिंह ने भी अपने 'शहर में रात' शीर्षक कविता में अभिव्यक्त किया था –

यह शहर कि जिसकी ज़िद है सीधी सादी

ज़्यादा से ज़्यादा सुविधा सुख आज़दी

तुम कभी देखना इसे सुलगते क्षण में

यह अलग–अलग दिखता है हर दर्पण में

.....

जब आंख लगे तब सुंनना धीरे –धीरे

किस तरह रात भर बजती हैं जंज़ीरें [45]

गोरख के काव्य संसार में सुविधा–सुख और आज़ादी का एक समानान्तर संसार रचने की ज़िद से संचालित मज़दूर बार–बार अपनी मृत्यु, गुलामी और अभावों से भरी दुनिया में बापस लौट जाने को तैयार नहीं है. अपने श्रम से उत्पादित स्वर्ग से बेदखल

होना अब उसे मंजूर नहीं है. एंगेल्स ने 'बानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' में लिखा था कि "... the decisive step was taken : *the hand had become free* and could henceforth attain newer skills,..... Thus the hand is not only the organ of labour, *it is also the product of labour*" [46] 'हाथ' शीर्षक कविता में गोरख हाथ की इसी ऐतिहासिक भूमिका की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं –

रास्ते में उगे हैं कांटे

रास्ते में उगे हैं पहाड़

देह में उगे हैं हाथ

हाथों में उगे हैं औजार [47]

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का जनभाष्य करते हुए गोरख मेहनतकश तबके को अपने श्रम से स्वतंत्रता अर्जित करने की दिशा में 'समय का पहिया' शीर्षक कविता में ले जाते हैं –

मेहनत के हाथों आज़ादी की सड़कें ढलें रे साथी !

समय का पहिया चले.[48]

गोरख की कविताएं श्रम को जीवनदृष्टि के रूप में स्थापित करती हैं. नागार्जुन की कविता 'घिन तो नहीं आती' में सौन्दर्यबोध और जीवन मूल्य के बदलाव की जो शुरुआत हुयी थी वह गोरख की कविताओं में अपनी तार्किक संगति तक पहुंचता है. रोमानी तौर पर रोटी–रोटी और भूख –भूख की गुहार लगाने की जगह गोरख श्रम की विचारधारा पर ज्यादा जोर देते हैं. यही वजह है कि उनकी कविताएं संगठन और प्रतिरोध की कविताएं हैं, मज़दूरों द्वारा गुलामी के प्रतिरोध की. 'अब नाहीं' शीर्षक गीत मज़दूरों द्वारा गुलामी और ज़हालत के नकार के साथ अपने श्रम के महत्व को समझ कर प्रतिरोध विकसित करने का गीत बना गया है, जिसे प्रकाशन के पहले भी संघर्षकारी जनता गाती थी और आज भी गाती है –

हमरे जंगरवा से घरती फुलाले फुलवा में खुशबू भरेले

हमके बनुकिया से कइल बेदखली तोहरे मलिकई चलेले

धरतिया अब हम नाहीं गंवइबो, बनुकिया हमरा के भावेले. [49]

श्रम के शोषण के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह, सशस्त्र विद्रोह द्वारा व्यवस्था परिवर्तन का स्वप्न इस देश के मज़दूरों को नक्सलबाड़ी ने दिखाया. बंदूक सामंती धाक और दमन के चरम का ही प्रतीक नहीं बल्कि क्रांति के साधन के रूप में इसी दौर में स्थापित होती है. यह दौर 'बंदूकों के मुंह मोड़ने' का है. बांग्ला के कवि सृजन सेन की कविता 'थाना हवालात से मां को' केवल नक्सलबाड़ी के दमन की व्यथा कथा नहीं बंदूकों के जवाब में बंदूकें थामते सर्वहारा के उल्लास की कविता है –

शोषितों का हर घर आज क्रांतिकारियों का किला है

शोषितों के हर हाथ में आज लाल झंडे का उल्लास है,

और

बंदूक के जवाब में बंदूक थाम

शोषितों के राजनीतिक अधिकार छीन लाने के लिए

हर सीने में आज सूर्य शपथ है.[50]

तकलीफ का उमड़ता हुआ समुंदर

गोरख के काव्य में जातिगत व लैंगिक शोषण सर्वहारा दृष्टिबिन्दु से उद्घाटित होता है. इसी कारण इस शोषण की भीषणता देश–काल–इतिहास और समाज की समग्र संरचना के भीतर से उभरती है. गोरख की कविता में औरतें और दलित–बहुजन इस चेतना के साथ क्रियाशील दिखते हैं कि बिना पूरे समाज को मुक्त किए उनकी मुक्ति संभव नहीं. इसीलिए न तो वे सहानुभूति के पात्र हैं और न ही अतिरंजित भावुक प्यार के. गोरख की कविता में औपनिवेशिक व सामंती जकड़बंदी में घिरी संघर्षरत औरतों के ढेरों अक़्स स्त्री–मुक्ति और समग्र मानव मुक्ति के अविभाज्य संबंध को प्रकट करते हैं. 'बुआ के लिए', 'आँखें देखकर', 'मैना', 'भूखी चिड़िया की कहानी', 'कैथरकला की औरतें'. 'बंद

खिड़कियों से टकराकर', 'सोहनी का गीत', 'तुम जहां कहीं भी हो', 'पैसे का गीत', 'मेहनत का बारहमासा' आदि कविताओं में सर्वहारा ही नहीं बल्कि अनेक वर्गों की संघर्षरत महिलाएं दीखती हैं. लेकिन गोरख की महिलादृष्टि में भी आम सहानुभूति की जगह वर्ग–सचेतन दृष्टि ही प्रधान है.

1981 में भोजपुर के कैथर कला गांव में महिलाओं ने नक्सलियों को पकड़ने के लिए आई पुलिस पर हमला बोल दिया था. अपने संगठित प्रतिरोध के द्वारा उन्होंने पुलिस की बंदूकें छीन ली थीं. सदियों से खामोश रहती आईं महिलाओं का यह कदम अचानक ही चर्चा का विषय बन गया. महिलाओं की यह कार्यवाही सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बढ़ा हुआ कदम साबित हुआ. गोरख के पास इन महिलाओं के लिए न तो सलाह है और न ही श्रद्धा विगलित भाव. कैथरकला की मज़दूर औरतें शोषण झेलते हुए कभी भी प्रतिवाद न कर सकने की स्थिति में थीं. लेकिन नक्सलबाड़ी आंदोलन ने उनकी चेतना में बदलाव करते हुए शोषण से मुक्ति के संघर्ष का हिरावल बना दिया.

तीज–ब्रत रखतीं धान–पिसान करतीं थीं
ग़रीब की बीवी
गांव भर की भाभी होती थीं
कैथरकला की औरतें .....
जुल्म बढ़ रहा था
ग़रीब–गुरबा एकजुट हो रहे थे
बग़ावत की लहर आ गयी थी
इसी बीच एक दिन
नक्सलियों की धर–पकड़ करने आयी
पुलिस से भिड़ गयीं
कैथर कला की औरतें .....
कैसे बंदूकें छीन लीं
पुलिस को भगा दिया कैसे ? ..... [51]

परंपरा और संस्कृति के नाम पर शोषणपरक व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास हमेशा ही शासक वर्ग़ करता है, बार–बार परंपरा की दुहाई देता है, गोरख सामंतों की

सोच को उन्हीं के शब्दों में रखते हैं –

यह तो बगावत है .....
उसी देश में जहां भरी सभा में
द्रौपदी का चीर खींच लिया गया
सारे महारथी चुप रहे .....
' खैर, यह जो अभी–अभी
कैथरकला में छोटा सा महाभारत
लड़ा गया और जिसमें
गरीब मर्दों के साथ कंधे से कंधा
मिलाकर
लड़ी थीं कैथरकला की औरतें
इसे याद रखें
वे जो इतिहास को बदलना चाहते हैं
और वे भी
जो इसे पीछे मोड़ना चाहते हैं..' [52]

कैथर कला की औरतें जुल्म सहते हुए जुल्म का प्रतिवाद करना कैसे सीख लेती हैं ? यह चेतना कहां से पैदा हो रही है ? बढ़ते हुए जुल्म के खिलाफ गरीबों के संगठित होने की प्रक्रिया में नक्लवादी आंदोलन ने जो वर्ग सचेत दृष्टि निर्मित की थी, कैथर कला की औरतों में वही दृष्टि साकार हो उठती है. नक्सलबाड़ी का आंदोलन परंपरा से क्रांतिकारी विच्छेद का आंदोलन था, जिसने राजनीति और संस्कृति में सर्वमान्य से दिखते मूल्यों पर प्रश्न खड़ा किया गया. स्त्रियों की जगह पर उनके लिए संघर्ष करने वाले 'नायक' गोरख की कविताओं में नहीं हैं. कैथर कला की औरतों का, जो पहले लाल पगड़ी देखकर घर में छिप जाया करती थीं, यह कदम ऐतिहासिक महत्व का है. इस कदम ने उन्हें 'क्या से क्या' बना दिया. इसीलिए इतिहास बदलने की इच्छा रखने वाली क्रांतिकारी शक्तियों और उसे पीछे ले जाना चाहने वाली सामंती शक्तियों दोनों को इस घटना को याद रखना चाहिए. क्योंकि कैथर कला की औरतों का यह ऐतिहासिक संघर्ष नए समाज

की रचना की बुनियाद हो सकता है और औपनिवेशिक–सामंती समाज के उत्पीड़न के अंत की घोषणा भी.

'बुआ के लिए' कविता सामंती समाज में विधवा के दारुण जीवन का चित्र है. विधवा जीवन की त्रासदी सदैव ही संवेदनशील रचनाकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं की संवेदना को प्रभावित करती रही है. निराला ने भी विधवा जीवन पर कविता लिखी. बाल विवाह और फिर पति के घर जाने के पहले ही पति की मृत्यु ने उसके जीवन को सतत उपेक्षा और घृणा की पात्र बना दिया है. यह समाज व्यवस्था उसे उन बातों के लिए दण्डित करती है जिसके लिए वह जिम्मेदार नहीं है.

वह मंगल की घड़ियों में
अमंगल होगी
वह विधवा है
सनातन धर्म का एक अभिशाप
ज़िंदा होकर भी जो
मौत की परछाईं की तरह रहेगी. [53]

स्त्रियों के शोषण की स्थिति तो यह है कि सामंती ही नहीं भारत में सामंतवाद से गठजोड़ करके आने वाले विशिष्ट किस्म के 'पूंजीवाद' के दौर में भी दहेज हत्याएं आम बात हैं. 'पैसे का गीत' शीर्षक गीत विवाह के समय गाए जाने वाले लोकगीत (गारी) की धुन में लिखा गया है. लेकिन लोक में उल्लास और आनंद की अभिव्यक्ति की यह धुन गोरख के काव्य संसार में एक दूसरी सच्चाई लेकर उपस्थित है, जहां दहेज न लाने वाली बहू को ज़िंदा जला देने की ओर संकेत किया गया है –

पैसे की अम्मा
पैसे के बप्पा
लपटों से बुनी ससुराल अजी पैसे की [54]

गोरख के काव्य में स्त्रियों के प्रति अतिरिक्त सतर्कता बरतने की जगह सहजता है. जिससे उनके शोषण के खिलाफ आक्रोश, उनके संघर्षों के प्रति सम्मान के साथ ही साथ उनकी कमजोरियों और अंतर्विरोधों को भी अनदेखा नहीं किया गया है. यह कैथर

कला की औरतों से पाई गई दृष्टि ही है जो बुआ के प्रति असीम लगाव और कृतज्ञता के बावजूद उस अंतर्विरोध से आँखें नहीं चुराती जिसे बुआ की चेतना में सामंतवाद ने पैदा किया है. 'बुआ के लिए' गहरी निश्छल ममता के बावजूद 'कैथरकला की औरतें' ही उनकी काव्य संवेदना की अगुवाई करती हैं.

'लेकिन बुआ
तुम अब भी छुआछूत क्यों मानती हो?
पिता के सामंती अभिमान के हमलों से
कवच की तरह
हमारी हिफाज़त करने के बावजूद
रामधनी चमार को नीच क्यों समझती हो
जो जिंदगी भर हमारे घर हल चलाता रहा
हमेशा गरीब रहा
और पिता का जुल्म सहता रहा?
क्यों?
आखिर क्यों सबकी बराबरी में
तुम्हें यकीन नहीं होता?
बोलो
चुप मत रहो बुआ..' [55]

गोरख की कविताओं में 'अभिशप्त प्यार' एक केन्द्रीय मोटिफ़ है जो महज़ वैयक्तिक होने की जगह समाज की सतत उपस्थिति के बीच है. यह प्रेम पितृसत्ता और सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ विकसित होता है. 'सात सुरों में' पुकारने वाला यह प्रेम फिल्मों में दिखाए जाने वाले 'कहीं भाग चलें' के फैशन में भी नहीं आता है. सात सुरों में पुकारने वाले प्रेमी का प्रभाव बहुत कुछ कृष्ण जैसा है जिनकी बांसुरी की आवाज सुनकर गोपियां 'कुलकानि' त्याग कर घर से निकल पड़ती थीं. गोरख के कविता में यह 'जोगी' कौन है ? यह गिरिधर नागर तो निश्चित ही नहीं है. इस जोगी का कोई ठौर ठिकाना नहीं है और अलख जगाता फिर रहा है और जात–पांत से ऊपर है.'सात सुरों में पुकारता

है प्यार' कविता में प्रेमिका की संवेदना और उसका आक्रोश उसे मीरा की संवेदना के निकट ले जाता है. गोरख ने शायद जानबूझ कर इस तरह का रूपक तैयार किया होगा. मध्यकालीन सामंती मूल्यों को चुनौती देने वाली विद्रोही स्त्री मीरा की संवेदना का विस्तार इस कविता में देखा जा सकता है –

मां, मैं जोगी के साथ जाऊंगी

.....

तुमने बहुत सहा है
तुमने जाना है किस तरह
स्त्री का कलेजा पत्थर हो जाता है
स्त्री पत्थर हो जाती है
महल अटारी में सजाने लायक़
मैं एक हाड़–मांस की
स्त्री
नहीं हो पाऊंगी पत्थर
न ही माल–असबाब
तुम डोली सजा देना
उसमें काठ की पुतली रख देना
उसे चूनर भी ओढ़ा देना
और उनसे कहना –
लो, यह रही तुम्हारी दुल्हन [56]

गोरख की कविता में स्त्री उपभोग का सामान बनने और व्यक्तित्व रहित होने से इन्कार करने लगती है. अब वह माल–असबाब की तरह महलों में सजा दिए जाने के खिलाफ अपना मुंह खोलना शुरू करती है.

निराला ने 'तोड़ती पत्थर' में भारतीय स्त्री की सनातन सी दीखती उस ऐतिहासिक भंगिमा का क्लासिक चित्र खींचा है जहाँ तकलीफ़ और शोषण की अकथ कहानी एक 'दृष्टि' में साकार हो गई है–

'देख कर कोई नहीं
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं' [57]

आगे चलकर गोरख महाकवि की इसी संवेदना को लगभग वैसे ही समर्थ क्लासिकीय बिंब में विस्तार देते हैं. यहाँ भी आँखें हैं जिनमें तकलीफ का समंदर है लेकिन साथ ही साथ दुनिया को जल्दी से जल्दी बदल देने की जरूरत भी–

'ये आँखें हैं तुम्हारी
तकलीफ का उमड़ता हुआ समुंदर
इस दुनिया को
जितनी जल्दी हो
बदल देना चाहिए.' [58]

जहाँ निराला की कविता में मजदूर स्त्री कवि को देखती हैं वहीं गोरख के यहाँ कवि उन आँखों में झाँकता है. दोनों ही जगह आँखों का मौन संभाषण है लेकिन बात फिर भी आगे बढ़ गई है. आँखों में तकलीफ के उमड़ते हुए समुंदर को देखना और दुनिया को बदल देने की छटपटाहट का एहसास काल के एक ही क्षण में घटित होते हैं, पूर्वापर क्रम में नहीं. दोनों दरअसल एक ही एहसास हैं. यहाँ संवेदना, विचार और कर्म में सहज अभेद है जैसा कि मार्क्स ने कहा था "दार्शनिकों ने अब तक दुनिया की व्याख्या की है, जरूरत हालाँकि यह है कि उसे (दुनिया को) बदल दिया जाए."

गोरख के काव्य–संसार में स्त्रियाँ आमतौर पर सर्वाधिक शोषित किन्तु सर्वाधिक मानवीय तबके के रूप में दिखती हैं. गोरख की कविता में स्त्री जीवन एक ऐसा रूपक है जिसमें शोषण की हद और इंसानियत की जिद एकाग्र है. 'सोहनी' करते समय मज़दूर स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत, जो फसलों के लिए उल्लासपूर्वक गाया जाता है, गोरख की संवेदना में आकर प्रतिवाद के माध्यम का रूप ले लेता है –

राजा के हाथ में चाबुक
बिवाई फटे पैर
हम निकालतीं खरपतवार

ताकि पौधों को रस मिले

फूलें–फलें पौधे

खेतों में सोना बरसे

जीवन सुखी हो

हमारी पीठ पर चाबुक के निशान

हमारे गीतों में राजा के घोड़े की टाप

चाबुक जल जाए

भसम हो जाए राजा का घोड़ा

हमारे गीतों में पौधों की सुआपांखी हरियाली हो

उगाया करें हम

मिट्टी से सोना

हमें दूसरों के आगे

आंचल पसारना न पड़े कभी. [59]

गीतों तक में घुस आए शोषण और दमन की धमक और टापों से रौंद दिए जाते सपनों के बीच राजा के चाबुक के जल जाने और उसके घोड़े के भस्म हो जाने की कल्पना भी यही सोहनी करती स्त्रियां ही कर सकती हैं, जिनकी पीठों पर चाबुक के निशान हैं.

गोरख की कविताओं में सिर्फ सर्वहारा स्त्री की ही स्थिति और संघर्ष नहीं हैं बल्कि मध्यवर्ग की स्त्रियों के दुःख दर्द के साथ भी सीधा संवाद है, उनके दुःखों की अभिव्यक्ति है. नारी को गुलाम बनाने के लिए कितने ही धार्मिक रीति–रिवाज़ ईज़ाद किए गए, कितनी सामाजिक संहिताएं बनाई गईं, हिंदू समाज में पति को तो परमेश्वर ही बना दिया गया. लेकिन शायद इतने से काम नहीं चल सकता था इसलिए स्त्री की एक छवि गढ़कर उसे उसी छवि में कैद कर दिया गया. उसकी हत्या करने वाले लोग ही उसे तमाम सम्मान जनक शब्दों से नवाज़ते रहे –

नयी बहू है, घर की लक्ष्मी है

इनके सपनों की रानी है

कुल की इज्ज़त है
आधी दुनिया है
जहां अर्चना होती उसकी
वहां देवता रमते हैं
वह सीता है सावित्री है
वह जननी है
स्वर्गादपि गरीयसी है [60]

इन तमाम सुन्दर से दिखने वाले शब्दों से नवाजे जाने के बावजूद नारी की स्थिति का कोई पुरसाहाल नहीं है. गोरख स्त्रियों पर होने वाले जुल्म के तीन सर्वाधिक प्रचलित रूप अपनी इस कविता में उठाते हैं. महिलाओं को दीवारों के भीतर कैद करके उनकी स्वाधीनता, उनकी रचनात्मकता की हत्या कर दी जाती है, महिलाओं को फांसी लगाकर मार डाला जाता है, उन्हें जला दिया जाता है और आत्महत्या साबित कर दिया जाता है. गोरख आधी आबादी के इस बर्बर दमन के जिम्मेदार के बतौर पूरी मनुष्यता को प्रश्नों के दायरे में ले आते हैं. इसीलिए जब स्त्रियों की यह आधी दुनिया गिरती है तो पूरी मनुष्यता गिरती है–

'घर–घर में श्मशान–घाट हैं
घर–घर में फांसी–घर हैं
घर–घर में दीवारें हैं
दीवारों से टकराकर
गिरती है वह
गिरती है आधी दुनिया
सारी मनुष्यता गिरती है
हम जो जिंदा है
हम सब अपराधी हैं
हम दंडित हैं।' [61]

अंधेरे बंद कमरों में लहूलुहान होकर गिरने वाली स्त्री अपनी असहायता समाप्त

करके दुनिया के तमाम अंधेरे कोनों में मुक्ति का प्रकाश भर सकती है. गोरख की यह समझदारी थी कि समाज के सबसे उत्पीडित तबके दलित और स्त्री की मुक्ति का रास्ता पूरे समाज की मुक्ति के रास्ते से अभिन्न है. क्योंकि इन तबकों की मुक्ति का संघर्ष पूरे समाज की मुक्ति का रास्ता खोलने वाला है. 'तुम जहां कहीं भी हो' कविता में गोरख इसी बात को अभिव्यक्त करते हैं –

अंधेरे कमरों और
बंद दरवाजों से
बाहर सड़क पर
जुलूस में और
युद्ध में तुम्हारे होने के
दिन आ गए हैं
तुम आओ
इस्पाती मोहक सौन्दर्य
आओ, घुटन और
चुप्पी के सिलसिलों
आओ, मेरे दिल के
हजार टुकड़ों
बंद रोशनियों दुनिया भर की
सबके लिए आज़ादी का अंतरिक्ष खोलो
तुम जहां भी हो, मैं तुम्हें, तुम सबको चाहता हूं. [62]

आदिम समाज जब वर्ग विभाजित नहीं था और व्यक्तिगत संपत्ति नहीं थी, तब महिलाओं के कामों का महत्व ज्यादा था. जैसे–जैसे कृषि का विकास हुआ और खेती के लिए लोहे के औजारों का प्रयोग शुरू हुआ वैसे–वैसे अतिरिक्त श्रम के लिए मनुष्य के एक हिस्से द्वारा दूसरे को दास बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई, समाज वर्ग विभाजित होना शुरू हुआ. इसी समय व्यक्तिगत संपत्ति का उदय हुआ और पुरुष सत्ता की स्थापना हुई. सर्वहारा की दासता और स्त्री की पराधीनता लगभग एक ही समय में एक ही तरह के

कारणों से शुरू हुयी. इन दोनों पीड़ित तबकों के मुक्ति संघर्षों के बीच शायद इसीलिए एक स्वाभाविक समानता है. बराबरी और सामाजिक सम्मान के लिए इन दोनों ही तबकों के संघर्ष दरअसल एक ऐसी व्यवस्था के लिए संघर्ष हैं जिसमें बराबरी हासिल करने की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां मौजूद हों. ऐसा समाज एक समाजवादी समाज ही हो सकता है, जो व्यक्तिगत संपत्ति और वर्ग विभाजन को समाप्त करेगा, जिसमें स्त्री का प्रथम परिचय घर में उसकी भूमिका से नहीं बल्कि समाज में उसके योगदान से होगा. गोरख की कविताओं में स्त्री इसीलिए समाजवादी समाज की रचना के लिए संघर्ष करती हुयी दिखती है. कम्युनिस्टों का चिन्ह हसुआ–हथौड़ा खेत मज़दूरों और कारखाने के मज़दूरों की एका को ही नहीं, लैंगिक बराबरी के चिन्ह के रूप में भी गोरख की कविता में मौजूद है. इतनी विचारधारात्मक और प्रगाढ़ प्रेम को एक साथ व्यक्त कर सकने वाली 'नेह की पाती' लिख सकने की क्षमता शायद गोरख के काव्य संसार की स्त्रियों के यहां ही सहज रूप से संभव हो सकती थी –

तूं हव श्रम के सुरुजवा हो, हम किरनिया तोहार
तोहरा से भगली बन्हनवा के रतिया
हमरा से हरियर भइली धरतिया

.....

रचना के हव तूं बसूलवा हो, हम रुखनिया तोहार

.....

तोहरे हथौड़वा से कांपे पूंजीपतिया
हमरे हंसुअवा से हिले भुंइखोरवा
तूं हव जूझे के पुकरिया हो हम तुरहिया तोहार [63]

जीवन में जो कुछ भी सहृदय, सुंदर और कोमल किन्तु अभिशप्त है वह उनकी कविता में अनायास ही स्त्रीलिंग बन जाता है. 'भूखी चिड़िया', 'मैना' आदि पक्षी इसी अभिशप्त कोमल मानवीयता के प्रतीक हैं. पितृसत्ता और सामंतवाद की छाया प्रेम, सौन्दर्य और स्वाधीनता का पीछा हर कहीं करती है, सपनों तक में. साथ ही स्त्रियां हर जगह उनका प्रतिवाद करती हैं, सपनों और गीतों तक में.

प्रियतम लोककथा बन बैठा राज दखल का नारा

"राज्य वर्ग विरोधों की असाध्यता की उपज और अभिव्यक्ति है. राज्य उस समय, उस जगह और उस हद तक पैदा होता है, जब, जहां और जिस हद तक वर्ग विरोधों का वस्तुपरक ढंग से समाधान नहीं हो सकता. और उलटकर कहें, तो राज्य की मौजूदगी यह साबित करती है कि वर्ग विरोधों का समाधान असंभव है" [64]

"मार्क्स के अनुसार राज्य वर्ग प्रभुत्व का निकाय है, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न का निकाय है, ऐसी "व्यवस्था" की सर्जना है, जो वर्गीय टकरावों को मद्धिम करके इस उत्पीड़न को क़ानूनी और मज़बूत बनाती है."[65]

"उत्पीड़ित वर्ग की आज़ादी न केवल बलात क्रांति के बिना, बल्कि राज्य सत्ता की मशीनरी के उन्मूलन के बिना भी असंभव है, जो शासक वर्ग द्वारा सृजित हुयी है और जिसमें यह पृथकता मूर्तिमान है"[66]

"जनवादी जनतंत्र पूंजीवाद के लिए श्रेष्ठतम संभव राजनीतिक खोल है और इसलिए इस श्रेष्ठतम खोल पर अधिकार करके पूंजी अपनी सत्ता को इतने विश्वसनीय ढंग से, इतने यकीनी तौर पर जमा लेती है कि बुर्जुआ–जनवादी जनतंत्र में व्यक्तियों, संस्थाओं या पार्टियों की कोई भी अदला–बदली उस सत्ता को नहीं हिला सकती"[67]

गोरख का काव्य संसार जिस एक सूत्र के इर्द–गिर्द फैला हुआ देखा जा सकता है वह है शोषित तबकों के शोषण और शोषण के खिलाफ विकसित होता उनका प्रतिरोध I. यदि यह करुणा से पैदा हुआ होता तो गरीबों की कुछ बेहतरी और उनके साथ मानवीय व्यवहार की अपील के साथ समाप्त हो जाता. दूसरी संभावना थी भावोच्छवास की. इसके माध्यम से शोषण के खिलाफ गर्जन–तर्जन तक सीमित रह जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग निकालना उनके लिए संभव न होता. गोरख का काव्य संसार जिस राजनीतिक आंदोलन के बीच से निर्मित हो रहा था, उस नक्सलबाड़ी आंदोलन के बारे में राजनीतिक रूप से भी इसी प्रकार की प्रतिक्रियाएं आयीं थी, जिनसे सावधान गोरख न केवल राजनीतिक रूप से 'सही' रहने का जोखिम उठाते हैं, बल्कि नक्सलबाड़ी आंदोलन की मुख्य थीम 'गरीबों की राजनीतिक दावेदारी' को अपनी कविता में

अभिव्यक्त करते हैं. गोरख का रचना संसार जिन भावों और विचारों से निर्मित होता है उसका मुख्य मक़सद राजसत्ता की मूलगामी आलोचना और एक वैकल्पिक सत्ता की स्थापना है. उन्होंने जिन दिनों लिखना शुरू किया वह नक्सलबाड़ी के किसान विद्रोह से प्रेरित राजनीति पर अमानुषिक दमन का दौर था. श्वेत आतंक के पक्ष में राज्य की समूची दमनकारी ताकत क्रांतिकारियों पर टूट पड़ी थी. लगता था, कुछ भी नहीं बचेगा. हजारों किसान, सैकड़ों नौजवान, और नक्सलबाड़ी के अधिकांश नेतृत्वकारी साथी 'मुक्त होगी प्रिय मातृभूमि' का सपना लिए अद्‌भुत वीरता से लड़ते हुए शहीद हो चुके थे. शहीदों का अविराम शोकगीत गोरख की कविता की अन्तर्वर्ती धार है, उनकी रचना की आधारभूत करुणा और अदम्य शौर्य. यह वही दौर है जब धक्का खाये आंदोलन को संभालते हुए 80 का दशक आते न आते क्रांतिकारी ताकतें क्रांति के पुनर्निर्माण के लिए संघर्ष और आत्मसंघर्ष में जुट गई थीं. इसीलिए गोरख की कविता में क्रांति का महज़ आवेग अथवा रोमानी भावोच्छ्वास नहीं बल्कि उसका अन्तः–बाह्य संघर्ष और परिपक्व राजनीतिक चेतना मिलती है. बदली हुई परिस्थिति में नक्सलबाड़ी के अनुभवों से निकली एक चिंता यह भी थी कि जमीनी संघर्षों से उठकर राजनीति की मुख्यधारा में हस्तक्षेप कैसे किया जाए. गोरख की कविता साहित्य–संस्कृति के क्षेत्र में इस चिंता का वहन करती है. एक ओर भोजपुरी की लोकलय में धरती के दुःख और धरती–पुत्रों के शौर्य को वे एकदम आधुनिक और वैज्ञानिक भौतिकवादी चेतना के साथ पिरो रहे थे, वहीं दूसरी ओर ग़ज़लों और नज़्मों के साथ छोटे कस्बों और शहरों में रहने वाले विराट निम्न–मध्यमवर्गीय जनसमूह को क्रांति के पक्ष में संबोधित करने की उनकी तैयारी स्पष्ट दिखती है.

मुक्तिबोध ने हिंदी कविता को जहाँ छोड़ा था, उस सिरे को फिर से पकड़कर काम शुरू करने की, अर्थात् साहित्य की मुख्यधारा में क्रांति के एजेंडे को पुनर्स्थापित करने की कोशिश गोरख ने शुरू की.

इतना ही नहीं यही वह दौर था जब पूरी दुनिया के पैमाने पर छात्र आंदोलन ने अपने आप को व्यवस्था विरोधी आंदोलन के रूप में स्थापित किया था, इस दौर में सार्त्र जैसे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को भी छात्रों के साथ सड़कों पर उतरना पड़ा था.

मुक्तिबोध की समूची कविताओं में तेलंगाना के जुझारू किसान संघर्ष और

उसका भयानक दमन एक पृष्ठभूमि के रूप में मौजूद है जो नक्सलबाड़ी के विद्रोह को भी पूर्वाशित करता है. वहीं गोरख की कविताओं में नक्सलबाड़ी का आंदोलन एक पृष्ठभूमि है जहां खड़े होकर भोजपुर के किसान संघर्षों के रूप में धक्का संभालकर खड़े होते नक्सलबाड़ी की धारा की अभिव्यक्ति है.

यहाँ के धधकते खेत–खलिहानों की दास्तान को कॉ0 विनोद मिश्र ने इन शब्दों में व्यक्त किया है – "देश में चारों ओर खेतों और खलिहानों में, झोपड़ियों और गलियों में, यातनागृहों और जेल की कालकोठरियों में बहा हुआ हमारे महान शहीदों का सारा कीमती खून मानो आकाश की ऊँचाई तक उठ गया और भोजपुर के आसमान पर लाल उजास की तरह छा गया. और जैसा कि बाद के वर्षों ने साबित किया कि यह उजास किसी धूमकेतु की नहीं बल्कि तारे की रोशनी थी, उस लाल तारे की जिसकी चमक स्थाई थी."[68]

आम तौर पर 70 के दशक के साहित्य पर नक्सलबाड़ी के प्रभाव को तीन रूपों में चिन्हित किया जा सकता है. आंदोलन के उभार और फैलाव का समय, दमन का समय और आंदोलन के पुनर्संगठन का वक़्त. इन तीनों दौर में कविता पर पड़े प्रभाव भी अलग–अलग हैं. शुरूआती दौर में या उसके प्रभाव में लिखी गई कविताओं में आवेग अधिक है, अधिक तेजी से इस तरह की कविताएं आकर्षित हैं. दूसरे दौर की कविताओं में गहन हताशा और टूटन का संकेत है. तीसरा दौर आंदोलन से उपजे मूल्यों को संजोने, उनकी दीर्घजीविता को सुनिश्चित करने और कविता की मुख्यधारा में अलग से अपनी विचारधारा अंकित करने का समय है. दमन के बाद हौसला दिलाने, यथार्थ और रूमान के बेहतरीन द्वंद्व के स्तर पर कविताएं इस दौर में निर्मित होती हैं. क्रमशः रूमान पक्ष का स्थान यथार्थ और रूमान का द्वंद्व ले लेता है तथा आवेगमय विचार से कविता एक विचारपद्धति तक की यात्रा तय कर लेती है.

इमर्जेंसी का दौर भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में एक बड़ी घटना था. गोरख के रचना संसार में अनेकों कविताएं इस दौर में लिखी गई. सत्ता के तानाशाही चरित्र और उसके उदारतम चेहरे की विवेचना गोरख की कविताएं करती हैं. 'भड़ुआ बसंत' कविता हो या 'उनका डर', आंदोलन के सामने सत्ता की स्थिति का यह विश्लेषण

गोरख को मुक्तिबोध की परंपरा से जोडता है. मुक्तिबोध की कविता 'भूल गलती' के काव्य नायक 'ईमान' के सामने 'रेत का सा ढेर शाहंशाह' की एक और विशेषता यहां है –

वे डरते है

किस चीज से डरते हैं वे

तमाम धन–दौलत

गोला–बारूद पुलिस–फौज के बावजूद ?

वे डरते हैं

कि एक दिन

निहत्थे और गरीब लोग

उनसे डरना

बंद कर देंगे. [69]

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी द्वारा राजसत्ता के सामने छोटे–मोटे लाभ की आकांक्षा में स्वयं को समर्पित कर देने की प्रवृत्ति पर गोरख की कविताएं व्यंग्य करती हैं. गोरख से पहले मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'अंधेरे में' में इन लोगों को पहचान लिया था. ये वही लोग हैं जो 'अंधेरे में' कविता में रात के अंधेरे में जुलूस में निकलते हैं और अपनी बौद्धिक संपदा जो कि आंदोलनों में काम आनी चाहिए थी, का आत्मसमर्पण करते हैं –

बैंड के लोगों के चेहरे

मिलते हैं मेरे देखे हुओं से

लगता है उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार

इसी नगर के !!

.....

.....

कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल

कई और सेनापति सेनाध्यक्ष

चेहरे वे मेरे जाने बूझे से लगते,

उनके चित्र समाचारपत्रों में छपे थे,

उनके लेख देखे थे,

यहां तक कि कविताएं पढ़ी थीं

भई वाह!

उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कवि–गण

मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान्

यहां तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात

डोमा जी उस्ताद '' [70]

यही आलोचक, विचारक और कविगण इमर्जेंसी के समय में सत्ता के सामने दयनीयता का जो भोंड़ा प्रदर्शन कर रहे थे गोरख ने अपनी कविता 'भडुआ बसंत' में इस प्रकार चित्रित किया है –

'ओम स्वागत बसंत

हमें लेक्चरर से रीडर बना दो

ओम वसंत हवामहे

हमें रीडर से प्रोफेसर

ओम स्वागत वसंत हवामहे

हमें भारी धनों वाली कुर्सी दिला दो.

कुलपति की आवाज और बुलंद थी–

'हे वसंत, ये फूल, ये पेड़, ये लड़के

ये लड़कियां, ये वेद, ये कविताएं, यह ज्ञान–विज्ञान

तुम्हारे चरणों में प्रेम से समर्पित

सिर्फ़ मुझे एक्सटेंशन दिला दो'' [71]

'कुर्सीनामा' के अंतर्गत लिखी गई 9 छोटी–छोटी कविताओं की श्रृंखला राजसत्ता के विविध रूपों और चरित्र का आख्यान है. शासक अपनी सत्ता कायम रखने के लिए समाज से पैदा हुयी अपनी शक्ति को समाज से ऊपर दिखाता है, निरपेक्ष दिखाने की कोशिश करता है. अपनी सत्ता को लोकतंत्र और देश दुनिया के पर्याय के रूप में प्रचारित करता है. वास्तव में वह न तो देश– दुनिया के प्रति प्रतिबद्ध होता है और न ही प्रजातंत्र के लिए. गोरख ने 'कुर्सीनामा' में राज्यसत्ता के इसी चरित्र को लोकप्रिय ढंग से स्पष्ट किया है.

कुर्सी खतरे में है तो प्रजातंत्र खतरे में है

कुर्सी खतरे में है तो देश खतरे में है

कुर्सी खतरे में है तो दुनिया खतरे में है

कुर्सी न बचे

तो भाड़ में जाएं प्रजातंत्र

देश और दुनिया. [72]

राज सत्ता क़ानून व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर दमन का तर्क ढूंढ़ती है, जबकि वास्तव में यह दमन इसलिए आवश्यक होता है ताकि उत्पादन के साधनों पर उनका कब्जा बरकरार रह सके. 'क़ानून' शीर्षक कविता में गोरख राज्य की इस खूबी को यों व्यक्त करते हैं –

क़ानून अपना रास्ता पकड़ेगा

हथकड़ियां डालकर हाथों में

तमाम ताक़त से उन्हें जेलों की ओर खींचता हुआ

गुज़रेगा विचार और श्रम के बीच से

श्रम से फल को अलग करता [73]

आज़ादी के बाद से ही लगातार शासक वर्ग ने दमनकारी कानूनों का निर्माण लोकप्रिय जनान्दोलनों को कुचलने के लिए किया. मीसा, टाड़ा, पोटा जैसे क़ानूनों के तहत बेगुनाहों और अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न इस बात का प्रमाण है कि सत्ता विरोध ा की किसी भी आवाज़ को बर्दाश्त नहीं करना चाहती. 'क़ानून' जो 'विरोध की जुबान पर' चाकू की तरह चलता है और बहते हुए खून की व्याख्या नहीं देता, जो 'ख़ौफ' का दूसरा नाम बन जाता है, अपनी हर करतूत को देश के नाम पर जायज ठहराता है. गोरख के लिए देश की जनता से अलग किसी देश की कल्पना संभव नहीं थी –

देश के नाम पर

जनता को गिरफ़्तार करेगा

जनता के नाम पर बेंच देगा देश

सुरक्षा के नाम पर

असुरक्षित करेगा [74]

नक्सलवादी धारा के कवि पाश ने देश की सुरक्षा के नाम पर चलाए जा रहे दमनचक्र को खतरनाक बताते हुए लिखा कि –

'गर देश की सुरक्षा ऐसी होती है

कि हर हड़ताल को कुचलकर अमन को रंग चढ़ेगा

कि वीरता बस सरहदों पर मरकर परवान चढ़ेगी

कला का फूल बस राजा की खिड़की में ही खिलेगा

अक्ल, हुक्म के कुंए पर रहट की तरह ही धरती सींचेगी

मेहनत, राजमहलों के दर पर बुहारी ही बनेगी

तो हमें देश की सुरक्षा से खतरा है [75]

जैसे–जैसे मज़दूर वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रहा था, वह शासकों द्वारा किए गए वादों को हक़ीकत में बदलने के लिए दबाव बना रहा था. भूखे –नंगे लोगों की कीमत पर चल रहे लोकतंत्र के महानाटक को अब वह और ढोने से इन्कार करने लगा. राजसत्ता ने इसका जवाब दमन से दिया. छुईखदान गोलीकांड पर बुद्धिजीवियों द्वारा प्रतिक्रिया तक न व्यक्त करना मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' में एक घटना नहीं प्रवृत्ति के रूप में आता है. मज़दूरों का प्रतिरोध भी सिर उठाने लगता है बार–बार पृष्ठभूमि में आने वाली पंक्ति 'कहीं आग लग गई / कहीं गोली चल गई' केवल सत्ता की गोली नहीं मज़दूरों के जवाब को भी ध्वनित करती है. गोरख की कविता 'उसको फांसी दे दो' इसी तरह से घटना विशेष (1978 में देश की सुरक्षा के लिए खतरा बताकर किसान क्रांतिकारियों को फांसी दे दी गई थी.) पर प्रतिक्रिया के साथ–साथ बढ़ती राज्य दमन की परिघटना बन कर आता है –

वह कहता है कोरा भाषण नहीं चाहिए

झूठे वादे हिंसक शासन नहीं चाहिए

भूखे नंगे लोगों की जलती छाती पर

नकली जनतंत्री सिंहासन नहीं चाहिए

उसको फांसी दे दो ! [76]

'अधिनायक वंदना' शीर्षक उनकी कविता राष्ट्रगान की पैरोडी के रूप में लिखी गई एक व्यंग्य कविता है जिसमें न केवल भारतीय राजसत्ता का चरित्र खुलकर सामने आता है बल्कि राष्ट्र की अवधारणा और राष्ट्रगान पर भी व्यंग्य किया जाता है. कविता का शीर्षक ही इस विडंबना को दिखाता है कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र अपने राष्ट्रगान की शुरुआत ही 'अधिनायक' की वंदना से करता है. राष्ट्रगान को जितने बड़े पैमाने पर राष्ट्र गौरव के रूप में स्थापित करने की कोशिश की गई साहित्य में उसकी

प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र हुयी. 'भारत भाग्य विधाता' हमेशा ही सवालों के निशाने पर रहे. रघुवीर सहाय ने लिखा कि

राष्ट्रगान में भला कौन वह

भारत भाग्य विधाता है

फटा सुथन्ना पहने जिसका

गुन हरचरना गाता है. [77]

गोरख ने 'अधिनायक वंदना' में अधिनायक के चरित्र को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है.

जय पाखंड और बर्बरता

जय तानाशाही सुंदरता

जय हे दमन भूख निर्भरता

सकल अमंगल दायक जय हे ! [78]

कवि रमाशंकर 'विद्रोही' ने सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए 'जन गण मन अधिनायक' और 'भारत भाग्य विधाता' की मृत्यु की कामना इन शब्दों में की –

पहले जन गण मन अधिनायक मरें

फिर भारत भाग्य विधाता मरें

मरना तो साधू के काका को भी पड़ेगा [79]

1971 नक्सलबाड़ी विद्रोह के दमन के लिए राज्य के 'श्वेत आतंक' के दौर के रूप में याद किया जा सकता है, जिसने बंगाल के भीतर एक पूरी की पूरी युवा पीढ़ी का वध कर दिया. राजसत्ता द्वारा शांति स्थापना का यह अनूठा प्रयास था. महिलाएं, मज़दूर और नौजवान सभी दमन के चक्के के नीचे पीस दिए गए. गोरख ने दमन के पीछे की कार्य–कारण शृंखला को सामने रखकर दमनकारियों की मूर्त पहचान उपस्थित

की –

कोतवाल ने नेता को

नेता को सेठ ने

दी हृदय से बधाई,

शहर कलकत्ते में शांति आई. [80]

कोतवाल, नेता और सेठ का गठजोड़ भारतीय राजनीति का सार है जो अलग–अलग रूपों में जनता का शोषण करता है. 'उठो मेरे देश' शीर्षक लंबी कविता में राजसत्ता वैधता प्राप्त करने के लिए अपने आप को जितने मोहक नारों और वादों के साथ प्रस्तुत करती है उसकी विवेचना की गई है.

देखा एक युगों पुरानी

लोहू पीने वाली मशीन को

जितना भी कहा जाएगा

या कहा जा सकेगा

उससे ज़्यादा ही क्रूर

ज़्यादा ही बर्बर

वह लोहू पीने वाली मशीन

बाहर से देखने पर एकदम ही मोहक है [81]

लोहू पीने वाली मशीन जो अलग–अलग रूपों में शोषण करती आई है कभी लोकतंत्र के नाम पर तो कभी समाजवाद के नाम पर, कभी भय से तो कभी सम्मान से जनता को अपने सम्मुख नतमस्तक कर लेती है. अपने आप को ही देश घोषित कर देती है. नेहरू का समाजवाद का नारा गोरख की दृष्टि को कभी भी छल न सका, सरकारी समाजवाद पर वे लगातार प्रहार करते रहे.

मेरा देश तो हवाई जहाज़ पर उड़ता है

बटन में गुलाब डाले .....

टाटा–बिड़ला सा अमीर है .....

समाजवाद और लोकतंत्र

मज़बूत करने में व्यस्त है, अधीर है [82]

नेहरू के समाजवादी नारे ने पूरे समाज में यहां तक कि कम्युनिस्टों के भीतर भी बड़ा विभ्रम पैदा किया था. गोरख की दृष्टि इस नारे के मर्म को अच्छी तरह समझती थी इसीलिए उन्होंने अपनी कविता को इस दिशा में विकसित किया कि भ्रम के फंदे काटे जा सकें. 'समाजवाद' कविता नेहरू के समाजवाद पर व्यंग्य भी है और उसकी हकीकत भी.

समाजवाद बबुआ, धीरे–धीरे आयी

नोटवा से आयी

वोटवा से आयी

बिड़ला के घर में समायी, समाजवाद.....

लाठी से आयी

गोली से आयी

लेकिन अहिंसा कहायी, समाजवाद..... [83]

अहिंसा के मुलम्मे में लपेटकर अपने को पेश करने वाली यह व्यवस्था अपने को जिलाए रखने के लिए जितने भी संभव हथकंडे हो सकते हैं उन सब का प्रयोग करती है, शोषकों को जनता के सबसे बड़े हितैषी के रूप में स्थापित करती है.

लोहू पीने वाली मशीन

इतनी सफाई से निबटा रही है

मामले को

कि दुश्मन दोस्त लगता है

मूर्च्छा की हालत में

देश खुद रख देता है गर्दन

उसकी तलवार के नीचे [84]

शोषण की व्यवस्था शोषितों से अपने होने का तर्क और अनुमोदन प्राप्त करती है. अपने को चलाने में शोषितों का इस्तेमाल करती है. 'उठो मेरे देश' के अंतिम हिस्से में गोरख सीधे जनता से मुखातिब होते हैं और जनता को इस शोषण दमन की मशीन की वास्तविकताओं के बारे में बताते हैं –

अगर तुम रोक – भर दो

अपने तमाम हाथ

यह मशीन ठप पड़ सकती है

कितना भारी व्यंग्य है

कि तुम्हारा लोहू पीने वाली

मशीन खुद को

तुम्हारे हाथों चलाती है

चल पाती है [85]

गोरख व्यवस्था परिवर्तन और सर्वहारा द्वारा सत्ता–दखल के पक्ष के कवि हैं. वे केवल विवेचन तक अपनी कविताओं को सीमित नहीं करते बल्कि सत्य और न्याय के पक्ष में लोगों को खड़ा करने की कोशिश करते हैं, जनसंघर्षों के हिरावल के रूप में कविता को स्थापित करना चाहते हैं. उन्होंने लिखा कि "हमारी स्थिति सिर्फ ऊपर से फैले अंधकार के बीच नहीं है, हम नीचे से उत्पीड़ित लोगों के संघर्ष से फूटती रोशनी

के बीच में भी जी रहे हैं और कविताएं सिर्फ अंधकार के बारे में नहीं, अंधकार को तोड़ने वाली रोशनी के औजारों के बारे में भी लिखी जा रही हैं और लिखी जाएंगी.'' [86] 'उठो मेरे देश' का अंतिम हिस्सा जनता को सशस्त्र विद्रोह के माध्यम से नया विधान और नए क़ानून रचने के लिए आह्वान है.

मुक्त होने के लिए

बंदूकों का मुंह मोड़ना पड़ता है

याद रक्खो

जहां क़ानून का मतलब

भूख–अपमान और खून है

वहां भूख–अपमान और खून का

हमलावर होना ही सही क़ानून है [87]

मुक्तिबोध ने जिन बातों को अवश्यंभावी कहा था, नक्सलबाड़ी के विद्रोह ने उनकी अपरिहार्यता को सिद्ध किया. नक्सलबाड़ी ने 'गढ़ों' और 'मठों' को ध्वस्त करने, जनता को राजनीति केन्द्र में स्थापित करने की जिस कार्य–योजना पर अमल किया मुक्तिबोध की कविताएं उसे पूर्वाशित कर रही थीं.

बिना संहार के, सर्जन असंभव है;

समन्वय झूठ है,

सब सूर्य फूटेंगे

व उनके केन्द्र टूटेंगे

उड़ेंगे–खण्ड

बिखरेंगे गहन ब्रह्माण्ड में सर्वत्र

उनके नाश में तुम योग दो !! [88]

गोरख इन सूर्य केन्द्रों को तोड़ने के लिए जनक्रांति को अपरिहार्य मानते हैं. इसीलिए जनता की ओर से लडने के सिद्धांत के विपरीत जनता को लड़ने के लिए तैयार करने पर उनका अधिक जोर है. इस लड़ाई के लिए जनता की चेतना को विकसित करने में वे दूसरों की भूमिका जरूर देखते हैं.

आवाज देता हूं
मैं तुम्हें करोड़ों कंठों से
अरबों पैरों में बांधकर / तूफ़ान
उठो / धधको बग़ावत की
लोहू–सी लाल अदम्य
लपटों में [89]

संदर्भ और टिप्पणियां

1 गोरख पाण्डेय, *फूल और उम्मीद,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ 9

2 गोरख पाण्डेय *हे भले आदमियों,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 10

3 गोरख पाण्डेय *खून की नदी,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 16

4 गोरख पाण्डेय, *जमींदार सोचता है,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 70

5 ग़ालिब, दीवान–ए ग़ालिब, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

6 गोरख पाण्डेय, *कानपुर में चार युवा बहनों द्वारा आत्महत्या करने पर,* स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 39

7 गोरख पाण्डेय, *चार ग़ज़लें,* स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 38

8 फ़िराक़ गोरखपुरी, *'आधी रात को',* गुले– नग़मा, लोकभारती प्रकाशन, 2000, पृ. 158

9 मल्लाहों का गीत, स्वर्ग से बिदाई, पृ. 31

10 मोर्चे का गीत, स्वर्ग से बिदाई, 32

11 गजानन माधव मुक्तिबोध, *चकमक की चिनगारियां,* चांद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999, 12वां संस्करण, पृ. 158

12 गोरख पाण्डेय, *सपना,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 111

13 गोरख पाण्डेय, *सुख के बारे में,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ0 21

14 गोरख पाण्डेय, *आज़ादी का गीत,* समय का पहिया, संवाद प्रकाशन मेरठ, 2003, पृ. 127

15 गोरख पाण्डेय, लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990, पृ0 119

16 वही

17 गोरख पाण्डेय, *बूढ़े घंटाघर के पास,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ.91

18 गोरख पाण्डेय, *दुःस्वप्न,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ.86–87

19 गोरख पाण्डेय, *चार ग़ज़लें,* स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 37

20 गोरख पाण्डेय, *संस्कृति और स्वतंत्रता,* लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990 पृ. 17

21 Frederick Engels, The Part Played By Labour In The Transition From Ape To Man, Foreign Language Press, Peking, 1975 p. 1.

22 Quoted in Chris Harman's, A People's History of the world, Bookmark Publications, London p. 330.

23 गोरख पाण्डेय, *अधिनायक वंदना,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 78

24 चेराबण्डा राजू, लोहा गरम हो गया है, पृ 53 में उद्धृत

25 गोरख पाण्डेय, *नेह के पांती,* जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 127

26 *मेहनत के बारहमासा,* वही, पृ. 128

27 Marx and Engels, German Ideology, Progress Publishers, Moscow, 1964, p. 60.

28 *मेहनत के बारहमासा,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 129

29 Quoted in A People's History of the world, Chris Harman, Bookmark Publications, London, p. 328-29.

30 *मेहनत के बारहमासा,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 129

31 वही, पृ 130

32 Quoted in A People's History of the World, Chris Harman, Bookmark Publications, London, p. 328-29.

33 *मेहनत के बारहमासा,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 131

34 वही, पृ. 131

35 वही, पृ 132

36 वही, पृ 129

37 Karl Marx, The Poverty of Philosophy ch. 2, sect. 5

38 *मेहनत के बारहमासा,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 129, 132

39 *उसको फांसी दे दो,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 72

40 Quoted in A People's History of the world, Chris Harman, Bookmark Publications, London, p. 328-29.

41 *स्वर्ग से बिदाई,* स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 12–13

42 *सुख के बारे में,* लोहा गरम हो गया है, पृ. 22

43 *स्वर्ग से बिदाई,* स्वर्ग से बिदाई, पृ. 13

44 वही, पृ. 13–14

45 केदारनाथ सिंह, *रात में शहर,* प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल पेपरबैक्स, द्वितीय संस्करण, 1993, पृ. 78,

46 Frederick Engels, The Part Played By Labour In The Transition From Ape To Man, Foreign Language Press, Peking, 1975, p. 3.

47 *हाथ,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 40

48 *समय का पहिया,* वही, पृ. 58

49 *अब नाहीं,* वही, पृ. 117.

50 सृजन सेन, 'थाना हवालात से मां को', विकल्प 4, पृ. 136

51 *कैथर कला की औरतें,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 12–13

52 वही, पृ. 12–13

53 *बुआ के लिए,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 35

54 *पैसे का गीत,* स्वर्ग से बिदाई, पृ. 25

55 *बुआ के लिए,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 37

56 *सात सुरों में पुकारता है प्यार,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 43

57 निराला, *तोड़ती पत्थर,* राग विराग, लोकभारती प्रकाशन, 2000, पृ. 119

58 *आंखें देखकर,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 29

59 *सोहनी का गीत,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 50–51

60 *बंद खिडकियों से टकराकर* जागते रहो सोने वालो, पृ. 20

61 वही, पृ. 21

62 *तुम जहां कहीं भी हो,* स्वर्ग से बिदाई, पृ. 17

63 *नेह के पांती,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 127

64 राज्य और क्रांति, लेनिन, संकलित रचनाएं, खंड 2, पृ.162, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988.

65 वहीं, पृ. 162

66 वहीं, पृ. 168

67 वहीं, पृ. 174

68 विनोद मिश्र, *बिहार के धधकते खेत खलिहानों की दास्तान की भूमिका,* संकलित रचनाएं, समकालीन प्रकाशन, 1999, पृ. 132

69 *उनका डर,* स्वर्ग से बिदाई, पृ0 50

70 गजानन माधव मुक्तिबोध, *अंधेरे में,* चांद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999, 12वां संस्करण, पृ. 263, 264

71 *भड़ुआ वसंत,* समय का पहिया पृ. 74–75

72 *कुर्सीनामा 5,* जागते रहो सोने वालो, पृ 48

73 *कानून,* जागते रहो सोने वालो, पृ 68

74 वही, पृ 69

75 अवतार सिंह पाश, अपनी सुरक्षा से, बीच का रास्ता नहीं होता, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 159

76 *उसको फांसी दे दो,* जागते रहो सोने वालो, पृ 72

77 रघुवीर सहाय, *अधिनायक,* प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, 2000, पृ. 46

78 *अधिनायक वंदना,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 78

79 अप्रकाशित

80 *कलकत्ता – 1971,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 93

81 *उठो मेरे देश,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 101

82 वही, पृ. 97

83 *समाजवाद,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 123

84 *उठो मेरे देश,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 103

85 *वही,* पृ. 106

86 *कविता को जन–संघर्षों के सवालों से टकराना होगा,* लोहा गरम हो गया है, पृ. 123

87 *उठो मेरे देश,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 107

88 गजानन माधव मुक्तिबोध, 'अंतःकरण का आयतन', चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ. 207–208

89 *उठो मेरे देश,* जागते रहो सोने वालो, पृ. 107

उपसंहार

धर्म की उत्पत्ति और उसकी सामाजिक भूमिका के बारे में लिखते हुए मार्क्स ने लिखा था – "धर्म पीड़ित प्राणी की कराह है, वह इस हृदयहीन जगत का हृदय है ठीक उसी प्रकार वह आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है. यह जनता के लिए अफीम है."[1]

"धर्म एक साथ ही मस्तिष्क की शोकाकुल अवस्था की अभिव्यक्ति है और उसके विरुद्ध विक्षोभ भी. पहली दशा में असमर्थता और उत्पीड़न के प्रति मन को बांधने, दुःख और दीनता तथा समाज की आत्माहीन परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने की भावना है, जबकि दूसरी दशा उत्पीड़न तथा सामाजिक असमानता का अंत करने की अभिलाषा की द्योतक है."[2]

मार्क्स के इस कथन से प्राचीन समय में धर्म की सामाजिक भूमिका स्पष्ट है. लेनिन ने धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल और धर्म की राजनीति पर और विस्तार से विचार किया –"धर्म बौद्धिक शोषण का एक रूप है जो हर जगह अवाम पर, जो दूसरों के लिए निरंतर काम करने, अभाव और एकांतिकता से पहले ही संत्रस्त रहते हैं, और भी बड़ा बोझ डाल देता है. शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में शोषित वर्गों की निष्क्रियता मृत्यु के बाद अधिक सुखद जीवन में उनके विश्वास को अनिवार्य रूप से उसी प्रकार बल पहुंचाती है जिस प्रकार प्रकृति से संघर्ष में असभ्य जातियों की लाचारी देव, दावन, चमत्कार और ऐसी ही अन्य चीजों में विश्वास को जन्म देती है. जो लोग जीवन भर मशक्कत करते और अभावों में जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें धर्म इहलौकिक जीवन में विनम्र होने और धैर्य रखने की तथा परलोक में सुख की आशा से सांत्वना प्राप्त करने की शिक्षा देता है. लेकिन जो लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहते हैं उन्हें धर्म इहजीवन में दयालुता का व्यवहार करने की शिक्षा देता है, इस प्रकार शोषक के रूप में अपने संपूर्ण अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने का एक सस्ता नुस्खा बता देता है और स्वर्ग में सुख का टिकट सस्ते दामों में दे देता है."[3]

गोरख ने 'स्वर्ग से बिदाई' में धर्म के इसी स्वरूप और उपयोग के बारे में लिखा है. यथास्थिति को बनाए रखने के लिए धर्म शोषण के तर्क के रूप में इसी प्रकार प्रकट होता है –

आपको काम करना है

हमें उसका फल भोगना है

आपको स्वर्ग बनाना है

हमें उसमें विहार करना है.

अगर ऐसा सोचते हैं

कि आपको अपने काम का

पूरा फल मिलना चाहिए

तो हो सकता है

कि पिछले जन्मों के आपके काम

अभावों के नरक में

ले जा रहे हों

विश्वास कीजिए

धर्म के सिवा कोई रास्ता नहीं[4]

धर्म उल्टी विश्वदृष्टि है, जिसे शासकों ने अपने शासन को बचाए रखने के लिए आम लोगों की बदहाली के तर्क के रूप में पेश किया. संगठित धर्म के भीतर भाग्य, जन्म–पुनर्जन्म, अवतार आदि की अवधारणाएं बनाई गईं. भारत में उपनिवेशवादी शासन के दौरान ही धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल की शुरुआत हो गई थी. 'स्वतंत्र' भारत में तो अभी तक शासकों ने धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल द्वारा सत्ता का सुख भी प्राप्त कर लिया है.

गोरख की कविताओं में शोषकों द्वारा धर्म के दोहरे स्तरों पर प्रयोग को साफ–साफ लक्षित किया गया है. ब्राम्हणवादी व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए सामंतों और नवधनाढ्यों द्वारा धर्म का इस्तेमाल. इस तरह के उदाहरण गोरख की दो

अपेक्षाकृत लंबी कविताओं 'मेहनत का बारहमासा' और 'स्वर्ग से बिदाई' में देखने को मिलते हैं –

'मेहनत का बारहमासा' में वे लिखते हैं

भागि धरम–करम अवतार सजनी

एहि खून चुसवन के हथियार सजनी[5]

धर्म की इस भूमिका को गोरख के समकालीन और कवि पाश की कविताओं में भी देखा जा सकता है. 'धर्म–दीक्षा के लिए विनयपत्र' कविता में पाश ने लिखा कि

धर्मगुरु, तुम सर्वकला – संपन्न हो !

तुम्हारा एक मामूली –सा तेवर भी

अच्छे –खासे परिवारों को बाड़े में बदल देता है

हर कोई दूसरे को कुचलकर

अपनी गर्दन तीसरे में घुसेड़ता है

लेकिन धर्मगुरु, मेरी तो एक ही गर्दन है

मेरा एक ही बेटा है धर्मगुरु !

वैसे अगर सात भी होते

वे तुम्हारा कुछ न कर सकते थे

तेरे बारूद में ईश्वरीय सुगंध है

तेरा बारूद रातों की रौनक बांटता है

तेरा बारूद रास्ता भटकों को दिशा देता है

मैं तुम्हारी आस्तिक गोली को अर्घ्य दिया करूगी[6]

शासकवर्ग धर्म का इस्तेमाल इसलिए करता है ताकि इस आधार पर समाज को

विभाजित रखा जा सके, ताकि आम लोगों को इस तरह के भावनात्मक सवालों में उलझा करके मुख्य आर्थिक संघर्षों और शोषण के खिलाफ होने वाले संघर्षों को पीछे धकेला जा सके.

इस बार दंगा बहुत बड़ा था

खूब हुयी थी

खून की बारिश

अगले साल अच्छी होगी

फ़सल

मतदान की.[7]

1992 में बाबरी मस्ज़िद के विध्वंस के बाद पूरे देश में जिस तरह कत्लेआम मचाया गया गोरख के कवि की आंख पहले ही उसे देख रही थी. जब मंदिर का ताला खोलकर कांग्रेस पार्टी ने राम नाम की भट्ठी पर अपनी चुनावी रोटी सेंकने की कोशिश की तभी गोरख ने इस मुद्दे में छिपी भयावहता को ताड़ लिया था. गतिशील यथार्थ की ऐसी पकड़ कि इस तरह की कविताएं भविष्यवाणी जैसी लगने लगती हैं –

मै कहना चाहता कि हत्या

देखो, लोगो, कुछ अंधे विश्वासों

के नाम पर हत्या हो रही है

एक मकान जिसे आदमी

ने बनाया है और जिसे

वह ढहा सकता है

एक ताला जिसे आदमी ने

लगाया है और जिसे

वह खोल सकता है

देखो, लोगो मैं कहना चाहता

हूं कि एक मकान और

एक ताले के नाम

हजारों आदमियों की हत्या हो रही है.[8]

80 के दशक में पंजाब का कृषि संकट हल करने में असफल रही भारत सरकार ने आतंकवाद का बीज बोया और बाद में इसी आतंकवाद से निपटने के नाम पर, देश की एकता और अखंडता की दुहाई देकर पूरे देश में सिख धार्मिक समुदाय के खिलाफ घृणा फैलाई गई और इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद तो मानो सिखों पर कहर ही टूट पड़ा. धार्मिक स्थलों ही नहीं उनके व्यावसायिक प्रतिष्ठान भी लूट लिए गए, महिलाओं के साथ बलात्कार किए गए और लोगों को जिंदा जला दिया गया. इस जनसंहार को जायज ठहराते हुए राजीन गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के साथ ही कहा कि जब बड़ा पेड़ गिरता है तब धरती हिलती है. इन हमलों और इस तरह के वक्तव्यों ने गोरख के कवि को बुरी तरह झकझोर दिया –

नारे थे मारो मारो इन्हें

चीखें थीं कि हमको जीने दो

गुरुद्वारे थे कुछ जलते हुए

मंदिर थे कि उन्हें न जीने दो

दो तीन दिनों तक

हिलती रही

दो तीन दिनों तक जलती रही

.....

फिर फौज आई

राजा ने सम्हाली बागडोर

सब ठीक हुआ जो कुछ भी हुआ

अब ऐसा तो होता ही है

.....

गुलदस्ते खून से लथपथ हैं

इस शहर की कोई दवा करो

बीमार है इसका दिल और जिगर

ये मेरा शहर है दिल्ली शहर [9]

प्रेमचंद ने ठीक पहचाना था कि सांप्रदायिकता संस्कृति की खोल ओढ़कर आती है. संस्कृति के भेस में आने वाली सांप्रदायिकता न केवल जनता की चेतना को पीछे ले जाने का काम करती है बल्कि फासीवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करती है. गोरख के सामने 84 के दंगे थे, जहां उन्होंने राज्य प्रायोजित नरसंहार को देखा था, इसीलिए कांग्रेस के पंजे को महज़ धर्म के आधार पर घृणा फैलाने वाले के रूप में नहीं बल्कि सुसंगत फासीवाद के वारिस के रूप में देखते हैं. यह अलग बात है कि अभी भी इस देश में साम्राज्यवाद के प्रति दंडवत का भाव रखते हुए फासीवादी विचारधारा को लागू करने के लिए शासक वर्ग के भीतर भी गंभीर प्रतियोगिता चल रही है. 2002 में गुजरात का जनसंहार कहीं अधिक भयावह तरीके से 84 की ही पुनरावृत्ति था–

पेट्रोल छिड़कता जिस्मों पर

हर जिस्म से लपटें उठवाता

हर ओर मचाता कत्लेआम

आंसू और खून में लहराता

पगड़ी उतारता हम सबकी

बूढ़ों का सहारा छिनवाता

सिन्दूर पोंछता बहुओं का

बच्चों के खिलौने लुटवाता

बोलो यह पंजा किसका है ?

यह खूनी पंजा किसका है ?

.....

यह पंजा नादिरशाह का है

यह पंजा हर हिटलर का है

यह जो शहर पे आग–सा बरसा है

यह पंजा हर जालिम का है

ऐ लोगो ! इसे तोड़ो, बरना

हर जिस्म के टुकड़े कर देगा[10]

जिस तरह मुक्तिबोध की कविताएं नक्सलबाड़ी आंदोलन को पूर्वाशित करती हैं उसी तरह गोरख की कविताएं संस्कृति की खोल में आ रहे फासीवाद की आहट पहले ही सुन लेती हैं. लेकिन आज गोरख साहित्य की मुख्यधारा से गायब हैं. 'गणना प्रसंग' में गोरख का नाम न आना कतई आश्चर्य का विषय नहीं है. गोरख की रचनाशीलता और साहित्य संस्कृति के उनके वैकल्पिक एजेंडे का मूल्यांकन अभी तक संभव नहीं हो पाया है क्योंकि अभी भी जनता के संघर्ष परिदृश्य में धकेले जा रहे हैं. जो इलाके इन संग्रामों की अग्रिम चौकी बने हुए हैं वहां गोरख के गीत लोकगीतों के रूप में न केवल जीवित हैं बल्कि जन संघर्षों की प्रेरणा बने हुए हैं.

संदर्भ और टिप्पणियां

1 शिव कुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, पृ.12 में उद्धृत, ज्ञानभारती, इलाहाबाद, 2002

2 के दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 76

3 लेनिन, धर्म के बारे में, राहुल फाउण्डेशन 2004, पृ. 9

4 गोरख पाण्डेय, स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, पृ. 12–13

5 गोरख पाण्डेय, जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 130

6 अवतार सिंह पाश, बीच का रास्ता नहीं होता, राजकमल प्रकाशन, 1998, पृ. 184

7 गोरख पाण्डेय, जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1983, पृ. 22–23

8 गोरख पाण्डेय, स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989, 17

9 वही, पृ. 22–23

10 वही, पृ. 26--27

संदर्भ–ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत

गोरख पाण्डेय, जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1983

गोरख पाण्डेय, स्वर्ग से बिदाई, जन संस्कृति मंच, 1989

गोरख पाण्डेय, लोहा गरम हो गया है, जन संस्कृति मंच, 1990

गोरख पाण्डेय, धर्म की मार्क्सवादी धारणा, समकालीन प्रकाशन, पटना, 2003

गोरख पाण्डेय, समय का पहिया, संवाद प्रकाशन मेरठ, 2003

Gorakh Pandey, An Examination Of The Concept Of Alienation In Existentialism, Unpublished

द्वितीयक स्रोत

Aijaz Ahmad, 'Fascism and National Culture', Social Scientist, Vol. 21, Nos. 3-4, March-April 1993

Aijaz Ahmad, '*Globalization and Culture*', paper presented at People's Convention Against Globalization, 21-23 March 2001

Alok Rai, Hindi Nationalism, Orient Longman, 2000

Antonio Gramsci, Selections From The Prison Notebooks, Orient Longman, Madras, 1996

Bertolt Brecht, *'Theatre for Pleasure or Theatre for Instruction'*, People's Art in the Twentieth Century, Jan Natya Manch, Delhi

Chris Harman's, A People's History of the world, Bookmark Publications, London, 1999.

Francis Malhern (ed), Contemporary Marxist Literary Criticism, Longman, London and New York, 1992

Frederick Engels, The Part Played By Labour In The Transition From Ape To Man, Foreign Language Press, Peking, 1975.

H. Adam Veeser (ed), The New Historian, Routledge, London and New York, 1989

Karl Marx- F. Engels, Manifesto of the Communist Party, Progress Publishers, Moscow, 1964

Karl Marx, German Ideology, Progress Publishers, Moscow, 1964

Karl Marx, The Poverty of Philosophy, Progress Publishers, Moscow, 1977

Karl Marx, Preface to the Critique of Political Economy, Progress Publishers, Moscow, 1977

Karl Marx, The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte, Progress Publishers, Moscow, 1977

Karl Marx, Critique of Hegel's Philosophy of Right, 1844, Cambridge University Press, London, 1970

Manfred Grabs (ed.), Hanns Eisler - A Rebel in Music, Selected Writings, Seven Seas Publishers, Berlin 1978

Sumanta Banerjee, Thema Book of Naxalite Poetry, Thema, Calcutta, 1987

Terry Eagleton, Criticism and Ideology : A Study In Marxist Literary Theory, Verso, London, 1976

Terry Eagleton, 'The Function of Critisicm', From the Spectator to Post Structuralism, Verso, London, 1984

Terry Eagleton, 'Brecht and Rhetoric', Against the Grain: Essays 1975-1985, Verso, London, 1986

Terry Eagleton, Ideology : An Introduction, Verso, London, 1991

अंतोनियो ग्राम्शी, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, ग्रन्थ शिल्पी, 2002

अजय तिवारी, समकालीन कविता : यथार्थबोध का विकास, वर्तमान साहित्य (सं. से. रा. यात्री, विभूति नारायण राय,), अंक 7–8, 1992

अवधेश प्रधान, जन संस्कृति, अंक 12, 1989

अवतार सिंह पाश, बीच का रास्ता नहीं होता, राजकमल प्रकाशन, 1998

अशोक वाजपेयी, कुछ पूर्वग्रह

अज्ञेय, तार सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999

आलोक धन्वा, दुनिया रोज बनती है, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

कार्ल मार्क्स, कला और साहित्य चिंतन (सं. नामवर सिंह), राजकमल प्रकाशन, 2003

काशीनाथ सिंह, परिवेश (सं. मूलचंद गौतम), अप्रैल–सितंबर 1994

कुमार विकल, *जंगल कैद*, एक छोटी सी लड़ाई

कुंवर पाल सिंह, साहित्य और राजनीति, भाषा प्रकाशन दिल्ली, 1981

केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल पेपरबैक्स, द्वितीय संस्करण, 1993,

ग. मा. मुक्तिबोध, तार सप्तक (सं. अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999

गजानन माधव मुक्तिबोध, चांद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1999, 12वां संस्करण

ग़ालिब, दीवान–ए ग़ालिब, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003

गोपाल प्रधान, *उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील*, रूपक, संपादक मधुप कुमार

गोपाल प्रधान, *केवल जलती मशाल*, नई पीढी, संपादक धीरेन्द्र झा, 1994

चारु मजूमदार, संग्रहीत रचनाएं, समकालीन प्रकाशन, पटना, 2001

नंद किशोर नवल, वर्तमान साहित्य, कविता विशेषांक, अप्रैल–मई 1992

नवारुण भट्टाचार्य, *'यह मृत्यु उपत्यका नहीं है मेरा देश'*, विकल्प 4, 1997

नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1996

नामवर सिंह, आलोचना, अंक 89, अप्रैल–जून 1989

निराला, *तोड़ती पत्थर*, राग विराग, लोकभारती प्रकाशन, 2000

फ़िराक़ गोरखपुरी, गुले– नग़मा, लोकभारती प्रकाशन, 2000

फ्रेडरिक एंगेल्स, परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1986

मार्क्स – एंगेल्स, साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

मैनेजर पाण्डेय, अनभै सांचा, पूर्वोदय प्रकाशन, 2002

रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक(सं. अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ, 1999

रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, 2000

राकेश कुमार, जॉर्ज लुकाच का यथार्थ दर्शन, शुभदा प्रकाशन, दिल्ली, 1991

राजेश जोशी, *कविता यही कहती है*, पहल पुस्तिका 37

लेनिन, राज्य और क्रांति, संकलित रचनाएं, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988.

वर वर राव, जन–आंदोलन और लेखक की भूमिका, पहल, जबलपुर, 1997

विनोद मिश्र, संकलित रचनाएं, समकालीन प्रकाशन, पटना, 1999

शमशेर बहादुर सिंह, दूसरा सप्तक(सं. अज्ञेय), भारतीय ज्ञानपीठ, 1999.

सियाराम शर्मा, *नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह और हिंदी कविता*, पल प्रतिपल, अंक 42, अक्तू. –दिस. 1997, सं. देश निर्मोही

सियाराम शर्मा, पहल : कविता का तीसरा संसार, नवंबर–दिसंबर–जनवरी/ 1995–96, जबलपुर

सुरेन्द्र स्निग्ध, नई संस्कृति 4–5, 1989

सुरेश सलिल, *गोरख पांडे और उनकी भोजपुरी कविताएं*, प्रतिपक्ष, सं. जार्ज फर्नांडिस, जनवरी1990

सृजन सेन, 'थाना हवालात से मां को', विकल्प 4

Jawaharlal Nehru University
Library
139